श्रीः ।

चरित्र-चन्द्रिका ।

द्वितीय भाग ।

सम्पादक—

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर ।

प्रकाशक—

मैनेजर—निगमागम बुकडिपो, भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड, बनारस ।

विजया दशमी संवत् १९८१ वि० । } प्रथम संस्करण { ता० ७ अक्तूबर सन् १९२४ ई० ।

समर्पण ।

"चरित्र-चन्द्रिका" का यह द्वितीय भाग भी उन्हीं भारतीय कुमारोंके कर-कमलोंमें सप्रेम समर्पित है, जिनके चारित्र्य-बलपर भारतका उज्वल भवि-ष्यत् अवलम्बित है ।

गोविन्द ।

विषय-सूची ।

निवेदन ।

हमारा भारतवर्ष भूलोकका नन्दन-कानन है। देवताओंका यह लीला-निकेतन है। इस रङ्ग-मञ्चपर मनुष्यरूपमें कितने ही भगवद्-वतार खेल खेल गये और खेलते रहेंगे। ऐसी भगवद्-विभूतियोंने इतिहासक्षेत्रमें अमर होकर अपने 'अमर' (देवता) होनेका परिचय दिया है। मनुष्य जातिके सामने उच्चतम आदर्श स्थापन करना ही इनके जन्मग्रहण करनेका एकमात्र उद्देश्य होता है। परिस्थितिके कारण इस समय कोई हमें भले ही पतित कहे, किन्तु इतिहास जबतक हमें धोखा नहीं देता और हमारी आध्यात्मिकता हमारा साथ नहीं छोड़ती, तबतक हमारा अभिमानसे यह कहना उचित ही जँचेगा कि, हम कभी पतित नहीं थे, न हैं, न होंगे। जिनके पवित्र अन्तःकरणोंमें दिव्य सात्विक तेज स्पष्ट या प्रच्छन्नरूपसे विद्यमान है, क्या वे कभी पतित हो सकते हैं? भारतवासियोंकी सात्विकता संसारमें अतुलनीय है।

विपत्ति ही पुरुषार्थकी जननी है। बिना विपद् पड़े, कोई पुरुषार्थ करनेपर उद्यत नहीं होता। हमारी वर्तमान पराधीनता ही हमें सोतेसे जगाकर पुरुषार्थ करनेके लिये उत्तेजित कर रही है। यह पुरुषार्थ कौशलपूर्ण रीतिसे किस प्रकार किया जाय, इसके जाननेमें हमें उन ईश्वरांश महानुभावोंके चरित्रोंसे सहायता मिल सकती है, जिन्होंने समय समयपर भारतवर्षमें उत्पन्न होकर मनुष्य जातिका कल्याण-साधन किया है। ऐसे सत्पुरुषोंके चरित्रोंकी ओर अपने देशके होनहार नवयुवकोंका ध्यान आकृष्ट करनेके विचार-से ही यह "चरित्र-चन्द्रिका" लिखी गयी है। जगत्में ऐसा कोई सद्गुण नहीं है, जो हमारे देशके किसी न किसी महापुरुषके चरित्रमें न पाया जाता हो।

इस ग्रन्थके प्रथम भागमें ३—४ धर्मप्रवर्तकोंको छोड़, प्रायः सभी चरित्र पौराणिक पुरुषोंके प्रकाशित हुए हैं। वे इतने अलौकिक हैं कि, उनका सहस्रांशसे भी अनुकरण करना असम्भव न होनेपर भी अत्यन्त कठिन है। केवल वे हमारे विचारों और आचारोंको उन्नत बनानेमें सहायक हो सकते हैं। हमारे जीवनके वे पथ-प्रदर्शक मात्र हैं। इस द्वितीय भागमें ऐसे ऐतिहासिक पुरुषोंके चरित्र दिये गये हैं, जिनमेंसे अपनी रुचिके अनुसार किसी एकको आंखोंके सामने रखकर कोई दृढ़प्रतिज्ञ युवक उसके अनुसार आचरण करे, तो विशेष सफलता प्राप्त कर सकता है। हमारे देशके नवयुवकोंके चरित्र-गठनमें यदि इस ग्रन्थसे कुछ भी सहायता हुई, तो हमें असीम आनन्द हुए बिना न रहेगा।

हमारा "सती-चरित्र-चन्द्रिका" नामक ग्रन्थ—जिसका अब द्वितीय संस्करण छपा है,—राजपक्ष और प्रजापक्ष दोनोंको अत्यन्त प्रिय हुआ है। गत गंगादशहरेको निकले हुए इस "चरित्र-चन्द्रिका" के प्रथम भागका भी लोगोंने अच्छा आदर किया है। इसी तरह आशा है, इस द्वितीय भागको भी लोग अपना कर हमें राष्ट्रभाषा हिन्दीकी अधिक उत्कट सेवा करनेके लिये उत्साहित करेंगे।

इस ग्रन्थके प्रथम भागकी तरह द्वितीय भागका भी स्वत्वाधिकार काशीके श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दानभाण्डारको हम सहर्ष अर्पण करते हैं और स्वजातीय शास्त्र-प्रकाशनके लिये स्थापित 'भारतधर्म सिण्डिकेट' को इसे प्रकाशित करनेकी अनुमति देते हैं।

काशी, विजयादशमी,
संवत् १९८१
विक्रमीय।

निवेदक—
गोविन्द शास्त्री दुगवेकर।

श्रीः ।

चरित्र-चन्द्रिका ।

द्वितीय भाग ।

श्रीवल्लभाचार्य ।

वल्लभाचार्यका जन्म दक्षिणके काकरवल्ली ग्राममें द्रविड़-जातीय लक्ष्मणभट्टके घर सन् १४७८ में [illegible] शाख [illegible] पुष्य [illegible] पूर्ति ११ को हुआ था। इनका पाण्डित्य भी असाधारण [illegible]। [illegible] किया, माधवानन्दतीर्थके निकट आपने अध्ययन किया [illegible] उन्हें [illegible] विवादशैली इतनी सुन्दर थी कि, इनके प्रतिवादी अप[illegible] खण्डन इनसे रुचिपूर्वक श्रवण करते थे। शास्त्राध्ययन सम[illegible] होनेपर ब्रह्मसूत्रभाष्यके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत और गीतापर भी आपने एक सुन्दर टीका की तथा और कितने ही छोटे बड़े ग्रन्थ बनाये। द्वैत अद्वैतके झगड़े उनके समयमें बहुत चल पड़े थे। इससे पण्डितोंको बहुत लाभ होता था, पर अज्ञानी जीव दुबिधेमें पड़ जाते थे। उनके उद्धारके लिये वल्लभाचार्यजीने नया सम्प्रदाय चलाया, जो इस समय भारतवर्षभरमें प्रचलित है। इस सम्प्रदायमें जैसी देवसेवा होती है, वैसी संसारभरमें देख नहीं पड़ती। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' यह इस मतका सर्वप्रधान सिद्धान्त है। आसेतु-हिमाचल तीनबार दिग्विजय यात्रा कर और

भारतवर्षके श्रीनाथ[illegible]ी, द्वारका, काशी आदि स्थानोंमें अपने सम्प्रदायके अनेक पीठ-स्था[illegible]न कर, आचार्यवरने भूले भटके लोगोंको सन्मार्ग दिखाया था। ब्रा[illegible]णसे लेकर शूद्रतक इस सम्प्रदायके शिष्य होते हैं और उपासनाका [illegible]धिकार सबको समानरूपसे दिया गया है। इनके सम्प्रदायके प्रचार[illegible]से जनसाधारणकी तमोगुणी वृत्तियां घटकर सत्वगुणोन्मुख हुई [illegible] और अज्ञानी जीवोंके आचार-विचार सुधरनेसे समाजका बड़ा उ[illegible]पकार हुआ। इनके शिष्योंमें ८४ वैष्णव बड़े सिद्ध हुए। सन् १५[illegible]० की आषाढ़ शुक्ला २ को वल्लभाचार्यजीने काशीमें महायात्रा की। इनकी गद्दीपर इनके वंशधर ही बैठते हैं। साम्प्रदायिक देवस्थानोंकी सेवा आदिके लिये इन्होंने ऐसा अच्छा अनुशासन बांधा है कि, धनकी कभी कमी नहीं हो सकती। अन्तमें आचार्यने संन्यास ग्रहण कर लियो था, जो उनके मतके विरुद्ध था। तथापि [illegible]र्य बड़े [illegible] महानुभाव और आदर्शस्वरूप थे, इसमें सन्देह नहीं।

[illegible]ानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ ये जो चार सम्प्रदाय [illegible]हे गये, उनके अनुयायियोंकी पहिचान इस प्रकारसे हो सकत[illegible]। रामानुज सम्प्रदायके लोग माथेमें दो सफेद खड़ी रेखाएँ और बीचमें एक लाल रेखा लगाते हैं। मध्व सम्प्रदायके लोग दो काली खड़ी रेखाएँ और उसके बीचमें काला टीका देते हैं। वल्लभसम्प्रदायी लाल खड़ी दो रेखायें और निम्बार्कसम्प्रदायभुक्त सज्जन नाकपर सफेद अर्धचन्द्र और भ्रूकुटीके बीचमें बिन्दी देते हैं। ये सब ऊर्द्ध्वपुंड्र कहाते हैं। शैव भस्म या त्रिपुण्ड्र लगाते हैं। निम्बार्काचार्यका मत उत्तर भारतमें (मथुरा वृन्दावन आदि क्षेत्रोंमें) बहुत प्रचलित है। प्रसिद्ध हरिदास स्वामी निम्बार्काचार्यके ही शिष्य थे। निम्बार्काचार्य बड़े त्यागी थे। श्रीभगवान् शङ्कराचार्यके मतसे उनका मत बहुत कुछ मिलता जुलता है।

एकनाथ महाराज ।

:o:

जीवके बन्धनकारी विषयोंसे चित्त हटा लेनेको सन्न्यास कहते हैं। केवल गेरुआ वस्त्र पहिन लेनेसे कोई संन्यासी नहीं हो सकता। जिसकी संकुचित बुद्धि नष्ट हो गई हो और जो प्राणिमात्रको अपना कुटुम्बी समझता हो, उसे अपने स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धवोंका त्याग करनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता। प्राचीन ऋषियोंका जीवनक्रम इसी तत्त्वके अनुसार था। आज भी स्वधर्मपरायण देशोद्धारक इसी श्रेणीमें हैं और ये ही आर्योंके सच्चे आदर्श हैं। ऐसे महर्षि मनुष्यजातिमें जिस समय जिस बातकी न्यूनता होती है, उसकी अपने परम पुरुषार्थसे पूर्ति करते हैं। प्राचीन ऋषियोंने स्वराज्यका आन्दोलन नहीं किया, इसका कारण वे स्वराज्यके विरोधी थे यह नहीं, किन्तु उन्हें पराधीन प्राणी कैसे होते हैं, इसकी कल्पना भी नहीं थी। वे स्वयं स्वतन्त्र थे और हर एक व्यक्ति स्वतन्त्र रहे, यह उनका सिद्धान्त था। इसीसे उन्हें केवल जड़-वादमें समय बितानेकी अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति करनेका अधिक सुअवसर प्राप्त हो सका था। वे समाज-सेवामें मन, वचन और आचरणसे लग गये थे। यही कारण है कि, आज भी उनका समाज जीवित है। संसारकी मनुष्य जातिका $\frac{1}{6}$ हिस्सा भारतवर्षमें है और वह अपनी पूर्व-परम्पराको नहीं भूला है, यह उक्त आर्य महर्षियोंके निरलस परिश्रमका ही फल है।

ऐसे महात्माओंमें श्रीएकनाथ महाराज परम समाजसुधारक थे। एकनाथ परम्परागत कवि, महात्मा और सन्त थे। लोक-

कल्याण ही उनका कुल-धर्म था। एकनाथके प्रपितामह महात्मा भानुदासका जन्म सन् १४४८ ई० में 'पैठण' (दक्षिण काशी अथवा 'प्रतिष्ठान' नामक शालीवाहन अथवा शातवाहन शककर्ता नृपतिकी राजधानी) में हुआ था। परम भागवत भानुदास ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। हुबली, बंगलोर, बल्लारी आदि नगरोंको बसाने, तुंगभद्राका जगत्प्रसिद्ध नहर निकालने, कलाकौशलकी हर तरहसे उन्नति करने और रामेश्वरसे बेलगांव (कर्नाटक) तक निष्कण्टक राज्य करनेवाले 'विजयानगरम्' के राजाकृष्ण-राय पंढरपुरसे विट्ठलमूर्ति अपने राज्यमें ले गये थे, वह मूर्ति भानुदास अपनी सिद्धाईके बलपर बड़ी युक्तिसे पुनः पंढर-पुरमें ले आये। वह दिन कार्तिक सुदी ११ का था। इस कारण उक्त दिन पंढरपुरमें अभीतक रथोत्सव होता है। भानुदासके पुत्र चक्रपाणि, चक्रपाणिके सूर्यनारायण और सूर्यनारायणके पुत्र एकनाथ थे। भानुदास, चक्रपाणी और सूर्य्यनारायणने जो देशसेवा की, उसका विस्तृत विवेचन स्थानाभावके कारण नहीं किया जा सकता। केवल एकनाथका चरित्र लिखनेका ही संकल्प किया गया है। उक्त संक्षिप्त विवेचनसे एकनाथके कुलका परिचय हो जाता है। यहाँ पर इतना ही कह देना पर्याप्त है कि, एकनाथके पूर्वज भगवद्भक्त, समाज-सेवक और अद्भुत देशाभिमानी थे। वे ही वंशगत गुण एकनाथमें स्वाभाविकरूपसे जन्मतः आ गये थे।

एकनाथका जन्म सन् १५२८ में हुआ। नाथ ५।६ महीनोंकी अवस्थामें मातृ-पितृ-विहीन हुए। चक्रपाणि ही आपका पालन करने लगे। नाथ जन्मसे ही अपने साथमें मेधा और श्रद्धा ले आये थे। पुराण, कीर्तन, पूजापाठ, निर्लोभ पवित्राचरण आदि गुणोंमें बाल्य-कालसे ही उनका चित्त लगा हुआ था। गुरुसे पढ़ते हुए गुरुको

ही भ्रम होता था कि, सम्भवतः अमुक विषय मैंने इन्हें सिखा दिया है! नाथकी बुद्धि इतनी तीव्र थी कि, किसी विषयको ग्रहण करनेमें उन्हें दुबारा पुस्तक नहीं देखनी पड़ती थी। १२ वर्षोंकी अवस्थामें प्रायः वे वेदशास्त्र-सम्पन्न हो गये थे। लौकिक गुरुओंके पास नाथको सिखाने योग्य अब कुछ भी नहीं बच रहा था। ऐहिक-विद्या वे समाप्त कर चुके थे। एक दिन उन्हें स्वप्न हुआ कि, देवगढ़ नामक स्थानमें दौलताबादके मुख्याधिकारी जनार्दन स्वामी रहते हैं, उनसे अध्यात्म-विद्याका लाभ होगा। नाथ बिना किसीसे पूछे नींद खुलते ही देवगढ़की ओर रवाना हुए। इधर चक्रपाणि नाथके वियोगसे व्याकुल हुए और उधर नाथ तीसरे दिन देवगढ़ पहुँच, सद्गुरुके दर्शन कर कृतार्थ हुए। यह सन् १५४० की बात है। 'जनार्दन स्वामी' के नामसे कोई यह न समझ ले कि, वे संन्यासी थे। वे गृहस्थ और राजनीतिज्ञ होनेपर भी कर्मयोगाचरणसे जीवन्मुक्त अवस्थाको पहुंच गये थे, इस कारण लोग उन्हें 'महात्मा' अथवा 'स्वामी' कहा करते थे। उन्होंने अपने उदाहरणसे सिद्ध कर दिया कि, गृहस्थधर्ममें ही पूर्ण निवृत्तिका साधन हो सकता है। उन्होंने अपने शिष्योंको भी ग्रंथलेखन और उपदेश द्वारा यही बात सिखाई। एक दिन वे समाधि चढ़ाकर बैठे थे। ऐसे अवसरमें गढ़पर शत्रुओंने एकाएक धावा किया। नाथ गुरुगृहमें रहते थे। उन्होंने गुरुके शस्त्रास्त्र धारण कर, सेनानायकका कार्य किया और थोड़े ही समयमें शत्रुओंसे सामना कर, उन्हें मार भगाया। इससे स्पष्ट होता है कि, नाथको युद्ध आदि व्यावहारिक विद्याओंका भी ज्ञान था। यदि नाथ अथवा स्वामीजी निरे ज्ञानयोगी होते, तो आगे चलकर महाराष्ट्रोंका राज्य स्थापन न हो सकता। महाराष्ट्रीय-सार्वभौम राज्य स्थापन करनेमें महाराष्ट्रके साधुसन्तोंने बहुत

कुछ सहायता पहुँचाई थी, इस बातके उक्त गुरु-शिष्य एक ज्वलन्त दृष्टान्त-स्वरूप हैं। गुरुने नाथपर हिसाबका काम सौंपा था! एक दिन एक पाईकी गड़बड़ दुरुस्त करनेमें नाथने सारी रात बिता दी। यह देख स्वामीजीने कहा,—'नाथ! जिसका व्यवहारोपयोगी कार्योंमें अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करनेका दृढ़ निश्चय हो गया हो, उससे परमात्मा दूर नहीं है। प्रवृत्ति-मार्गके अवलम्बनसे ही निवृत्तिका ज्ञान होता है। जब एक पाईकी भूल दुरुस्त करनेसे लाखोंका हिसाब शुद्ध हो सकता है, तब निवृत्तिकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्तिमें जो भूलें होती हों, वे भगीरथ प्रयत्नसे दूर कर, मनुष्य विशुद्ध स्वरूपको क्यों नहीं प्राप्त कर सकेगा? जो सिद्धान्त व्यवहारके हैं, वे ही परमार्थके हैं। 'सकाम कर्म' ही प्रवृत्तिकी भूलें हैं। इनको दुरुस्त करनेसे साधक जान लेता है कि, प्रवृत्ति और निवृत्ति भिन्न नहीं हैं।' इसी समयसे नाथ पूर्णज्ञ हुए। वे निष्काम-धर्मका पालन करने लगे।

नियमित कार्य करनेके अतिरिक्त जो समय मिलता, उसमें नाथ समाधिका अभ्यास करते थे। तपोबलसे वे ऐसे निर्भय हो गये थे कि, साँप बिच्छूसे उन्हें कुछ भी भय नहीं रहा था। कहते हैं, उन्हें भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन हुआ था और समाधिमें सर्प उनके शरीरपर खेलते थे। शिक्षा समाप्त होनेपर समस्त भारत-वर्षमें शिष्यसे प्रवास करानेकी पहिले रीति थी। तदनुसार नाथको देशभ्रमण करनेकी आज्ञा हुई। नाथने तीर्थयात्रा आरम्भ की। प्रथम त्र्यम्बक क्षेत्रमें आये। यहाँ तक स्वामीजी भी साथ थे। यहीं नाथने 'चतुःश्लोकी भागवत' नामक अपना पहिला मराठी ग्रन्थ बनाकर गुरुको सुनाया। गुरुके लौट जानेपर तीर्थाटन और ग्रन्थ-लेखन ही नाथका एकमात्र कर्त्तव्य था। चारों धामकी यात्रा करते हुए उन्होंने प्रचण्ड लोकसंग्रह किया और अपनी रसमयी वाणीसे

अनन्त कर्त्तव्यविमुख लोगोंको अपने अपने कर्त्तव्यपथपर आरूढ़ किया। समस्त भारतवर्षकी प्रदक्षिणा कर, अपनी २५ वर्षोंकी अवस्थामें नाथ अपनी जन्मभूमिमें लौट आये। अब स्वामीजीने उन्हें गृहस्थाश्रम करनेकी अनुमति दी। नाथकी भेंटसे वृद्ध चक्रपाणि और उनकी स्त्री बहुत प्रसन्न हुई। शुभ मुहूर्तपर नाथका विवाह हुआ। नाथकी गृहिणीका नाम गिरिजा था। गिरिजानाथ प्रवृत्ति और निवृत्तिरूपी गंगा-यमुनाके मध्यमें इह-परलोकका सुधार करनेवाली लोकसेवारूपी उर्वरा भूमिमें आनन्दके साथ रहने लगे। नाथकी दृष्टिमें वर्ण, जाति, भाषा अथवा धर्मका भेद नहीं बच रहा था। वे सबको समानरूपसे ज्ञानामृतका पान कराते थे। उन्होंने भक्तिमार्गके द्वारा भावी महाराष्ट्रीय साम्राज्यकी इमारत बाँधनेका उपक्रम किया। नाथके पुरुषार्थसे महाराष्ट्रमें ऐसा एक भी पुरुष नहीं बच रहा, जिसे अपने देश और धर्मका ज्ञान न हुआ हो। जिसे देशज्ञान नहीं, उसे देवका भी ज्ञान नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त नाथकी जीवनीमें स्थान-स्थानपर देखा जाता है। सब वर्ण और जातिको उच्चतम वैदिक ज्ञान करानेके कारण काशी, नाशिक आदिके विद्वानोंने नाथका बहुत छल किया, परन्तु 'साँचको नहीं आँच' इस कहावतके अनुसार विरोधियोंका कुछ नहीं चला और अन्तमें शास्त्रार्थ आदिमें नाथका ही विजय हुआ। ज्ञानाधिकारानुसार नाथ ब्राह्मण और चाण्डालमें भेद नहीं समझते थे।

यात्रामें नाथ ग्रंथ लिखा करते थे, यह कहा जा चुका है। चतुःश्लोकीभागवतके अतिरिक्त हस्तामलक-टीका, शुकाष्टक-टीका, स्वात्मबोध, चिरञ्जीव-पद, आनन्दलहरी, अनुभवानन्द, मुद्राविलास, लघुगीता, भजनीभारूड़, रुक्मिणी-स्वयंवर, नाथ-भागवत आदि कई छोटे बड़े कवितामय ग्रन्थ नाथके लिखे उपलब्ध हैं। सभी

ग्रन्थ प्रायः अद्वैत मतानुसार आत्म-स्वातन्त्र्यके साथ व्यक्तिस्वातन्त्र्य और देश-स्वातन्त्र्यके पक्षके हैं। उनकी श्लोक—(अभङ्ग, ओवी आदि मराठी छन्द) संख्या ७५ हजारसे अधिक है। इन ग्रन्थोंमें राजनीति, व्यवहार, भक्ति, ज्ञान, कर्तव्याकर्तव्य आदिका अच्छा विवेचन है। केवल कविताकी दृष्टिसे ही देखकर मराठीके उच्च कवियोंमें नाथकी गणना की जाती है। नाथकी कवितामें राष्ट्रीय विचार कूट-कूटकर भरे हुए होनेके कारण नाथ लोकसंग्रह करनेमें सफल हो सके थे। दो एक ग्रन्थ काशीमें ही लिखे गये। आध्यात्मिक ग्रन्थ देशी—भाषाओंमें लिखना उस समयके संस्कृताभिमानी पण्डित पाप समझते थे। उनकी यह धारणा काशीमें नाथने मिटा दी। नाथका अन्तिम ग्रन्थ 'भावार्थ रामायण' अधूरा रह गया था, वह उनके प्रिय शिष्य 'गावबा' ने पूर्ण किया। उत्तरकाण्डके कुछ अध्यायमात्र शेष रह गये थे, उन्हींकी शिष्यने पूर्ति की। नाथ हिन्दी-कविता भी बनाते थे। नमूना इस प्रकार है:—

मसजिदमें है अल्ला खड़ा। और क्या सारा जगत् खाली पड़ा? ॥
चार ही बखत हैं निमाजोंके। और क्या बखत हैं चोरोंके ? ॥
'एका जनार्दन' का बन्दा। ज़मीन आस्मानमें भरा खुदा ॥

नाथकी हर एक कवितामें 'एका जनार्दन' की छाप रहती थी। 'एका' (एकनाथ) और 'जनार्दन' (उनके गुरु) इनका निरन्तर अद्वैत भाव बनाये रखनेके लिये ही ऐसी छाप रक्खी गई। जनार्दनके जैसे एकनाथ शिष्य थे, वैसे अबकी युनिवर्सिटियोंमेंसे कितने शिष्य हमारी शिक्षाप्रिय गवर्नमेन्ट तैयार कर सकी है? नाथ प्रतिदिन कीर्तन करते थे। ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल तक सभी कीर्तनमें आते थे। यही उनका राष्ट्रीय विद्यालय था। इसी विद्यालयसे उत्तीर्ण हुए विद्यार्थियोंकी सन्तानने आगे चल कर महाराष्ट्रमें स्वराज्यकी स्थापना की थी। स्वर्गीय लोकमान्य तिलकके घर

खूफिया पुलिस जिस प्रकार महीनों अतिथि बन, आहार विहार करती थी, उसी प्रकार नाथके घर भी साव‌से लेकर चोरोंतक अतिथिसत्कारके पात्र बनते थे। कभी कभी तो चोर अपने आगमनका कारण खुले दिलसे बताकर नाथके शिष्य बनते थे। नाथ चमत्कार-प्रिय थे। जब युक्ति प्रमाणोंसे किसी देशद्रोही ज्ञानलव-दुर्विदग्धका सन्तोष नहीं होता, तब वे चमत्कार दिखाकर उसे काबूमें लाते थे। क्षमा, शान्ति, परोपकार, भूतदया, निस्पृहता, निरहंकार, देश-प्रेम, हरिभक्ति, स्वराज्य-लालसा आदि गुण नाथमें स्वाभाविकरूपसे आगये थे। उनके कर्मयोगयुक्त आचरणको देख, कितने ही गृहस्थ कर्मयोगी बन गये। वास्तवमें आचारकी पूर्ति व्याख्यान लेखादिसे नहीं हो सकती। वर्त्तमानसमयमें इसकी प्रतीति लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धीके आचरणोंको देखकर हो सकती है।

राष्ट्रीय धर्मके प्रचारार्थ कीर्तन समाप्त होनेपर प्रतिदिन नाथ अपने हाथोंसे सब श्रोताओंको मिष्टान्न बांटते थे। इस समय ब्राह्मण-शूद्रका उन्हें विचार नहीं रहता था। नाथकी धर्मपत्नी गिरिजाबाई और पुत्र हरिपण्डितसे नाथको सब तरहसे सहायता मिलती थी। इस कारण नाथको कभी गृहस्थीके कष्ट नहीं हुए। हरिपण्डित जब संस्कृत पढ़ते थे, तब नाथके मराठी ग्रंथोंको उपहासकी दृष्टिसे देखते थे। परन्तु राष्ट्रीय कार्य्यमें देशी भाषाओंकी जैसी जैसी उन्हें उपयोगिता प्रतीत होने लगी, वैसा वैसा उनका भ्रम दूर हो चला और अन्तमें वे भी मराठीमें ही अपने ग्रन्थ लिखने लगे। स्त्री-समाजमें गिरिजाबाईने अच्छा काम किया था। नाथकी 'लीला' और 'गङ्गा' नामकी दो कन्याएँ थीं। लीलासे प्रसिद्ध देशभक्त भगवद्भक्त और ग्रन्थकार 'मुक्तेश्वर' हुए। नाथके जैसे पूर्वज प्रतिभाशाली थे, वैसे इनके वंशज भी हुए। नाथका जैसा अनेक रीतिसे कुल

हुआ, वैसा सम्मान भी बहुत हुआ। देशभक्तोंको दोनों अवस्थाओंका अनुभव करना ही पड़ता है।

इस प्रकार नाथने देश और देवताके कार्य्यमें अपना समस्त जीवन बिताकर सन् १५९९ में फाल्गुन बदी ६ रविवारके दिन आनन्दके साथ पुत्रपौत्रोंके सामने हरिभजन करते हुए दिव्य लोकमें प्रयाण किया। यह षष्ठीका दिन महाराष्ट्रमें त्यौहारोंके समान माना जाता है। क्योंकि इसी दिन जनार्दनस्वामीका जन्म, उन्हें दत्तदर्शन, उनका नाथपर अनुग्रह एवम् देहान्त हुआ और एकनाथ महाराजका देहावसान भी इसी दिन हुआ था। इस दिन २।४ लाख मनुष्य पैठणमें एकत्र होते हैं। नाथके पूर्वजोंको ज़ागीरें मिली थीं, नाथको मिलीं और उनकी सन्तानको भी मिलीं। ये ज़ागीरें प्रायः राजपूत और मराठा राजाओंकी दी हुई हैं। नाथके समयमें उनके चरण अनेक राजन्यगणके रत्नमय मुकुटोंकी प्रभासे देदिप्यमान रहा करते थे। आज भी उनकी समाधिपर उक्त दिन सैकड़ों राजा चँवर डुलाते हुए देख पड़ते हैं और समाधिके सम्मुख सब जाति, धर्म और समाजके लोग बन्धु-भावसे भोजन करते हैं।

एकनाथ महाराजकी कार्य-कुशलताका वर्णन उद्धव, चिद्धन, रङ्गनाथ, शिवराम, रामवल्लभ, सिद्धचैतन्य, मुकुन्द, मुक्तेश्वर, नरसोपन्त, तुकाराम, निलोबा, श्रीधर, देवदास, अवधूत, एकेश्वर, अमृतराय, मयूर आदि कवि और भक्तोंने अपनी सुधामयी वाणीसे किया है। जिसको महाराष्ट्र-भाषा-भाषी पढ़ पढ़कर आनन्द-सागरमें लीन होते हुए कर्त्तव्यपालनके लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। ऐसे स्वार्थत्यागी गृहस्थ महात्माओंकी इस समय भारतको आवश्यकता है। उनका अनुकरण करना ही हमारा एकमात्र कर्तव्य है।

—०:*:०—
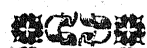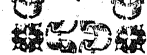
श्रीचैतन्यदेव।

कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गका मेल कराने वाला भक्तिमार्ग है। भारतवर्षमें आर्य महर्षियोंने अधिकारिभेदानुसार जो अनेक सम्प्रदाय चलाये, उनमें वैष्णव सम्प्रदाय भक्तिमार्गको ही प्रधान मानता है। यह अन्य मार्गोंसे है भी सुगम; इसीसे इसका प्रचार बहुत और स्वल्प आयाससे हो सका। बङ्ग देशमें इस मार्गके प्रधान प्रचारक महात्मा श्रीचैतन्यदेव हुए।

बङ्गालमें श्रीहट्ट नामक एक प्रसिद्ध नगर है, वहाँ जगन्नाथ मिश्र पुरन्दर नामक एक तपस्वी वैदिक ब्राह्मण रहा करते थे। पठन पाठन और गङ्गास्नानकी सुबिधा देख, वे युवावस्थामें ही नवद्वीपमें आ बसे थे। वहीं उनका नीलाम्बर चक्रवर्ती महाशयकी कन्या शचीदेवीसे विवाह हुआ। शचीदेवीके गर्भसे मिश्रजीके लगातार आठ कन्याएँ हुईं, जो थोड़े ही दिनोंमें इहलोकको छोड़ चल बसीं। फिर उन्हें एक पुत्र हुआ, जिसका नाम विश्वरूप रक्खा गया। विश्वरूपका लालन पालन करते हुए मिश्रजी और शचीदेवी दोनों, कन्याओंके वियोग-दुःखको भूल गये। विश्वरूप थोड़े ही समयमें अच्छे विद्वान् हुए। उनके विवाहकी बातचीत चली। परन्तु उनका ध्यान सर्वदा परमात्माके चरणोंमें लगा रहनेसे विना विवाह किये ही वे एक दिन किसीसे विना कुछ कहे सुने घरसे चल दिये और संन्यासी हो गये।

सन् १४८५ ई० फागुन सुदी पौर्णिमाको मिश्रजीके एक और पुत्र हुआ, जिसका नाम विश्वम्भर रक्खा गया। इन्हींका नाम संन्यास ग्रहण करनेपर श्रीकृष्ण चैतन्य, या चैतन्यदेव हुआ। विश्व-

रूप संन्यासी हुए, उस समय विश्वम्भर गोदके बच्चे थे। विश्वरूपके वैराग्यसे पिता माता एक ओर अत्यन्त दुःखित और दूसरी ओर विश्वम्भरकी बालक्रीड़ासे बड़े ही आनन्दित हुआ करते थे। विश्वम्भरका सौन्दर्य्य मनको लुभानेवाला था। उनका गौरवर्ण, घुँघराले बाल, विशाल नेत्र, सुडौल शरीरावयव और मधुर मुख देख, लोगोंके हृदयोंमें उनके प्रति प्रेम उमड़ आता था। फागुन सुदी पौर्णिमाको चन्द्रग्रहण था। इस दिन विश्वम्भरका जन्म हुआ और उनका रूप भी अलौकिक था। इससे लोग अनुमान करते थे कि, यह कोई महापुरुष होगा। आगे चलकर ऐसा हुआ भी।

कहा जाता है कि, शान्तिपुर निवासी अद्वैताचार्य्य महाशयने एक दिन गङ्गास्नान करते हुए देखा कि, एक तुलसीपत्र स्रोतसे उलटा बहता जा रहा है। थोड़ी दूरपर शची देवी स्नान कर रही थीं, उनके पेटको छूकर वह तुलसीपत्र अदृश्य हो गया। उसी दिन वे गर्भवती हुईं और यथासमय चैतन्यका जन्म हुआ। प्रायः सब देशोंमें यह रीति प्रचलित है कि, जिस स्त्रीके बच्चे मर जाते हैं उसके नवजात बालकका जो नाम रक्खा जाता है, उस नामसे उसे नहीं पुकारते। पुकारनेको कोई दूसरा नाम रख लिया जाता है। तदनुसार अद्वैतकी पत्नी सीतादेवीने विश्वम्भरका नाम 'निमाई' रक्खा। नीम कडुई होती है, कडुई वस्तुको यम नहीं खा सकते, इस भावनासे यह नाम रक्खा गया।

चैतन्य बचपनमें बड़े चञ्चल और उपद्रवी थे। बराबरीके लड़कोंसे मारपीट करते, पनिहारियोंके घड़े फोड़ते, सन्ध्या करते हुए ब्राह्मणोंपर पानी फेंकते, पानीमें डूबकर स्नान करनेवालोंके पैर खींचते और इसी तरहकी दिन रात अनेक कुचालें किया करते थे। लोग शची देवीके पास 'निमाई' के उलहने प्रतिदिन ले

आते और वे सबको किसी प्रकार समझा बुझाकर विदा कर दिया करती थीं। एक दिन 'निमाई' को पीटने शची देवी दौड़ीं, तो वे घूरे (कूड़ाखाने) में जा छिपे। माँका वहाँ जाना सम्भव नहीं था। उसने कहा,—"इस अपवित्र स्थानको छूनेसे तू अपवित्र हो गया, जाकर गंगा नहा आ।" निमाईने उत्तर दिया,—"यह स्थान अपवित्र नहीं, जिससे मनुष्य अपवित्र होता है, वह स्थान मनुष्यके हृदयमें ही है।"

चैतन्य प्रारम्भिक शिक्षाकी पाठशालामें बैठाये गये। थोड़े ही दिनोंमें वहांका अभ्यास क्रम समाप्त कर उन्होंने पण्डित गङ्गादास-की पाठशालामें संस्कृत, काव्य और व्याकरण पढ़ना आरम्भ किया। आठवें वर्षमें उनका उपनयन किया गया। उस समय उनका नाम 'गौरहरि' रक्खा गया। उनके बारहवें वर्षमें मिश्र-जीका देहान्त हुआ। चैतन्य पितृ-वियोगसे बड़े दुःखित हुए, तो भी उन्होंने विद्याभ्याससे मुँह नहीं मोड़ा। गङ्गादाससे साहित्य-व्याकरण पढ़ लेनेके पश्चात् वङ्गदेशके उस समयके सबसे बड़े न्याय-शास्त्रके पण्डित वासुदेव सार्वभौमके निकट न्यायशास्त्र पढ़ने लगे। तीन चार वर्षोंमें ही वे इस शास्त्रमें पारङ्गत हो गये। फिर उन्होंने नवद्वीपके वल्लभाचार्य्यकी कन्या लक्ष्मीदेवीसे विवाह किया और मुकुन्द-सञ्जयके चण्डीमण्डपकी पाठशालामें वे पढ़ाने लगे, जिससे थोड़े ही दिनोंमें उनकी विद्वत्ताकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी।

पठन पाठनसे जो समय बचता, उसमें चैतन्यदेव न्यायशास्त्र-पर ग्रन्थ रचना करते या श्रीमद्भागवतका पाठ किया करते थे। वासुदेव सार्वभौमके तीन ही शिष्य विख्यात ग्रन्थकार हुए। वे थे गदाधर, जगदीश और चैतन्य। तीनोंने गौतमके सूत्रोंपर टीकाएँ बनाईं। अपने अपने ढङ्गकी तीनों टीकाएँ अनोखी थीं। तीनोंको

देख सार्वभौम महाशयने बड़ी प्रशंसा की; परन्तु चैतन्यकी टीका देखकर उनके मुँहसे निकल गया कि,—"यदि यह टीका संसारमें रह गई, तो गौतमका नाम कोई न लेगा।" इस वाक्यको सुन गदाधर और जगदीश बड़े खिन्न हुए। एक दिन चैतन्य उक्त दोनों सहाध्यायियोंके साथ नावमें बैठकर गङ्गाजीकी शोभा देख रहे थे। उनके बगलमें उनकी बनायी हुई टीकाकी पोथी देख, गदाधर और जगदीशकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। इसका कारण पूछनेपर दोनोंने उदासीन भावसे चैतन्यसे कहा,—"आपकी टीका हाथ लगनेपर हमारी टीकाओंको अब कौन पूछेगा?" चैतन्यकी त्यागबुद्धि, परोपकारपरायणता और सरलतापर दोनोंका विश्वास था। इसीसे इस तरह स्पष्टतया उन्होंने अपनी हृदय-व्यथा कह सुनायी। चैतन्यका हृदय पसीज गया। सहाध्यायियोंकी हृद्व्यथा मिटानेके विचारसे उन्होंने अपनी टीकाकी पोथी 'श्रीगङ्गार्पणमस्तु' कहकर गङ्गाजीमें फेंक दी। उनके इस असाधारण त्यागको देख दोनों गद्‌गद हो, उनके चरणोंपर गिर पड़े। न्यायशास्त्रकी उच्च कक्षाओंमें गदाधारी और जागदीशी ये ही दो टीकाएँ पढ़ाई जाती हैं। इनसे बढ़कर अभी तक कोई टीका नहीं बनी है।

चैतन्य प्रतिदिन ईश्वरपुरी, श्रीवास आदि वैष्णवभक्तोंके साथ धर्मचर्चा और हरिनामसङ्कीर्तन किया करते थे। कुछ भक्तोंके साथ वे पूर्व वङ्गमें अनेक देवस्थान देखने गये थे, इसी अवसरमें उनकी पत्नी लक्ष्मीदेवीका सर्पदंशसे अकस्मात् देहान्त हो गया। माताके अनुरोधसे घर आकर उन्होंने पुनः सनातन मिश्र महाशयकी कन्या विष्णुप्रियासे विवाह किया। यह सहधर्मिणी भी लक्ष्मीदेवीके समान रूपगुणोंमें चैतन्यदेवके अनुरूप ही थी। दोनों प्रेमपूर्वक कालयापन करने लगे। इस समय चैतन्यकी अवस्था २१

वर्षोंकी थी । दो वर्षोंके पश्चात् वे गयामें पितृश्राद्ध करने गये । वहाँ विष्णुपद और वैष्णवोंकी भक्ति-महिमाको देख, वे मुग्ध हो गये । वहीं महात्मा ईश्वरपुरीसे उन्होंने विष्णुमन्त्र ग्रहण किया और वैष्णवधर्मके प्रचारका बीड़ा उठाया । घर आकर देहाभिमान, ज्ञानगर्व, शास्त्रार्थ, विवाद, तर्कप्रियता आदि प्रतिष्ठाकी वृद्धि करनेवाली वृत्तियोंको छोड़, वे एकमात्र भक्तिमहासागरमें डूब गये । ईश्वरके प्रेममें मग्न होनेपर उन्हें देहका भान नहीं रहता था ।

एक बार चैतन्य, नित्यानन्द आदि वैष्णवगण हरिभजन करते हुए जा रहे थे, मार्गमें जगन्नाथ और माधव नामक दो उन्मत्त शाक्त उन्हें मिले । उन्होंने इन वैष्णवोंको खूब पीटा । परन्तु नित्यानन्द और चैतन्य अविचल भावसे मार खाते हुए हरिनामकी महिमा उन्हें सुनाने लगे । इस शान्तिका देख, दोनों पसीज गये और चैतन्यके चेले बने । आगे चलकर नित्यानन्दको निताई जगन्नाथको जगाई और माधवको मिताई कहकर लोग पुकारने लगे ।

इसी प्रकारकी अनेक घटनाएँ प्रायः हुआ करती थीं और चैतन्य आचाण्डाल सबको वैष्णवधर्मकी दीक्षा देते जाते थे । इससे चिढ़कर पण्डितोंने उनसे 'अधर्मी' 'आततायी' कहकर बोलना छोड़ दिया । पण्डितोंसे बिना बोले और विचार-विनिमय किये वैष्णवधर्मका उन्हें रहस्य समझाना असम्भव जानकर चैतन्यने माता और पत्नीसे किसी प्रकार सम्मति ले, केशवभारतीसे संन्यासाश्रमकी दीक्षा ले ली । उद्देश्य यही था कि, संन्यासी हो जानेपर पण्डितोंसे सम्भाषण करनेका अवसर मिलेगा । घरसे जब चैतन्य चले, तो नगरके सब स्त्री-पुरुष उनके वियोगके दुःखको सोच व्याकुल हो उठे और सबके सब उनके साथ हो लिये । परन्तु श्रीवास आदि भक्त विद्वानोंके समझानेपर सब दुःखित अन्तःकरणसे अपने अपने घर लौट आये । केवल निताई, चक्रेश्वर,

मुकुन्द, चन्द्रशेखर, दामोदर, गदाधर और नरहरि ये सात हरिभक्त ही उनके साथ गये।

इसके पश्चात् जगन्नाथपुरीसे रामेश्वर, द्वारका, नासिक, मथुरा, काशी आदि तीर्थस्थानोंकी यात्रा करते हुए चैतन्य वङ्गदेशमें लौट आये। उनका संन्यास ग्रहण करनेका उद्देश्य इस यात्रामें सफल हुआ। जहाँ जहाँ वे गये, वहाँ वहाँ हरिनाममाहात्म्यका प्रचार उन्होंने किया। पण्डितोंसे उनका सम्भाषण हुआ और सार्वभौम भट्टाचार्य्य, काशीमिश्र, रूपगोस्वामी, सनातन गोस्वामी आदि महा पण्डित उनके शिष्य बने। पीछेसे विष्णुप्रिया भी संन्यासिनी बनकर उनके पास रहने लगीं और शचीदेवीको भी उन्होंने अपने पास बुला लिया। माताके देहान्तके पश्चात् एक दिनमें हरिप्रेममें मग्न होकर चैतन्यदेव समुद्रमें कूद पड़े थे, पर मल्लाहोंने उन्हें निकाल लिया। सन् १५३३ के आषाढ़ मासमें किसीसे कुछ बिना कहे सुने चैतन्य कहाँ चले गये, उसका आजतक पता न लगा। उनके अदृश्य होनेके उपरान्त विष्णुप्रियाने प्रथम उनका मन्दिर नवद्वीपमें स्थापन किया। फिर कितने ही मन्दिर बने और उनका एक सम्प्रदाय ही चल पड़ा, जिसे ‘चैतन्य सम्प्रदाय’ कहते हैं। इस सम्प्रदायके लोग आज भी लाखों हैं, जो हरिनामकी महिमा-प्रचार करते हैं। पाण्डित्यसे हरिभक्तिका माहात्म्य विशेष है, यही चैतन्य-चरित्रसे शिक्षा मिलती है।

——:o*o:——

यवन हरिदास ।

शान्ति-निकेतन इस पवित्र भारतवर्षके लोग धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि अनेक दुःखकष्ट स्वदेशी और विदेशी लोगों द्वारा सनातन कालसे सहते आये हैं। उन दुःख-कष्टोंसे कष्ट सहन करनेवालोंकी उज्वलता बढ़ी है इसमें संदेह नहीं, परन्तु कष्ट देनेवालोंके मनोरथ उनकी घृणित कृतिसे सफल नहीं हो सके, यही आश्चर्य है। गो-ब्राह्मण प्रतिपालक प्रातः-स्मरणीय छत्रपति शिवाजी महाराजके दुराचारी परन्तु परम-धार्मिक पुत्र सम्भाजीका अत्यन्त क्रूर औरङ्गजेबने महम्मदी धर्म्म ग्रहण न करनेके कारण निर्दयताके साथ वध किया। इसका परिणाम यह हुआ कि, महाराष्ट्र जातिमें एक नवीन तेज उत्पन्न होकर उसमें औरङ्गजेबकी राजसत्ता दग्ध हो गई। ९ वीं शताब्दिसे भारतमें मुसलमानोंने इस तरहके अनन्त अत्याचार किये, परन्तु उनका फल मुसलमानोंके अनुकूल नहीं हुआ। हिन्दुओंमें धर्मसम्बन्धी कट्टरपन बढ़ गया और मुसलमान मात्र घृणाकी दृष्टिसे देखे जाने लगे। यही नहीं, किन्तु मुसलमानोंके अत्याचारोंके कारण 'दूधका जला छाँछ फूँककर पीता है' इस कहावतके अनुसार अब हिन्दू लोगोंकी किसी विदेशी धर्मपर श्रद्धा नहीं रही है।

अत्याचार कभी सफल नहीं होते। इसके उदाहरण विदेशी इतिहासोंमें भी पाये जाते हैं। 'ईसा मसीह' को पाखण्डी कहकर लोगोंने फाँसीपर चढ़ा दिया, परन्तु आज पृथिवीके १/२ लोग उसके शिष्य हैं। भारतीय सिद्धान्तके अनुसार ग्रीक तत्त्ववेत्ता

'साक्रेतिस' भी कहता था कि, आत्मा अमर है। इसी अपराधसे उसके देशबान्धवोंने उसे प्राणदण्ड दिया। परन्तु उसके पश्चात् उसका मत सर्वसम्मत हुआ और 'प्लेटो' जैसे तत्ववेत्ताने वह मत विशेषरूपसे प्रचलित किया। इङ्गलैण्डकी जालिम रानी मेरीने 'प्राटेस्टण्ट' धर्म (ईसाई धर्मकी एक शाखा) पर विश्वास रखनेवाले 'लेटिमेन' और 'रीडले' को मार डाला। उन्होंने मरते समय कहा कि, हम सत्यके लिये मरते हैं। जनन मरण तो मानवीलीलामात्र है। मर कर भी हम इङ्गलैण्डमें ऐसी ज्योति उत्पन्न कर जायँगे, जो कभी नहीं बुझेगी। उनका कथन सत्य हुआ और रानी एलिजाबेथके समयसे 'प्राटेस्टण्ट' धर्म इङ्गलैण्डका राजधर्म बन गया। 'गेलीलियो' नामक तत्ववेत्ताने भारतीय भास्कराचार्य्य आदिके मतानुसार सूर्य्यके आसपास पृथ्वी घूमती है, इस मतका आविष्कार किया। इस अपराधसे उसे आजन्म कठिन कारावासका दण्ड दिया गया। परन्तु आज उसीका मत समस्त संसार मान रहा है। फ्रान्स, रशिया आदि देशोंमें प्रजा-तन्त्र राज्यशासनप्रणाली चलानेके विरुद्ध सैकड़ों वर्षोंतक रक्तपात हुआ, परन्तु अन्तमें वहाँ प्रजातन्त्र राज्य स्थापन करना ही पड़ा। मुसलमानी धर्मके प्रधानाचार्य्य महम्मदका उसके देशबान्धवोंने बहुत छल किया। यहाँ तक कि, उसको मार डालनेके लिये गुप्त मण्डलियाँ भी स्थापित हो गईं; परन्तु उन संकटोंसे सामना करते हुए महम्मदने अपना धर्म इतना बढ़ाया कि, आजके ईसाई धर्मकी तरह एक दिन पृथ्वीकी १/३ मनुष्यजातिने महम्मदी धर्म्मको ग्रहण कर लिया था। गुरु नानक और उनके अनेक शिष्योंको मुसलमानोंके हाथोंसे प्राणविसर्जन करने पड़े थे। प्रति दिन सौ शिष्यों (सिक्खों) का बलिदान करनेकी बादशाही आज्ञा थी। शिष्योंको पकड़ लाने और उन्हें मार डालनेवालोंको बादशाहकी

ओरसे उत्तम पुरस्कार मिलते थे। इस प्रकारका शरीरपर रोंगटे खड़े करने वाला अत्याचार सहकर शिष्योंने अपना प्रभाव संसारमें प्रकट कर दिया। आज शिष्योंका गण्यमान्य स्वतन्त्र धर्म बन गया है। चैतन्यदेवका भी बङ्गालमें स्थान-स्थानपर अपमान हुआ। लोगोंको विश्वास हो गया था कि, अब वैष्णवधर्म नहीं रहेगा; परन्तु वैष्णवोंका प्रतिरोध करनेसे ही वैष्णवधर्मकी उन्नति हुई और आज समग्र बङ्गाल चैतन्यदेवका उपासक है। उन्हें बङ्गाली लोग चैतन्य महाप्रभु कहने लगे हैं।

इतिहास पुराणोंमें ऐसे ऐसे एक दो नहीं, सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं। सबका सारांश यही है कि, कोई किसीको यदि केवल लाठीके बलपर चिरकाल तक अपने अधीन रखना चाहे, तो यह बात उसके लिये असम्भव हो जाती है। आघातपर प्रत्याघात होना अनिवार्य है। इसीसे गौतमबुद्ध, शङ्कराचार्य्य जैसे प्रायः सभी महापुरुषोंने अपने मतोंके प्रचारकोंको किसीके हृदयपर आघात न पहुंचानेके सम्बन्धमें समय समयपर सूचनायें दी थीं। परमात्मा स्वातन्त्र्यमय होनेसे उसकी सृष्टि भी स्वतन्त्र है। 'सोऽहम्' से 'कोऽहम्' और पुनः 'कोऽहम्' से 'सोऽहम्' होना सृष्टिका नियम है। इसको कोई मेट नहीं सकता। उदाहरण स्वरूप यवन हरिदास हैं।

बङ्गदेशका नाम तीन कारणोंसे विख्यात हुआ। (१) सुधन्वा और प्रतापादित्यके पराक्रमसे (२) चैतन्यदेवके धर्मप्रचार और अनेक पण्डितोंके शास्त्रप्रणयनसे तथा (३) लार्ड कर्जन कृत बङ्गभङ्ग सम्बन्धीय स्वदेशी आन्दोलनसे। हरिदासकी कथा चैतन्य-देवके समयकी है। उत्तरमें काशी-काश्मीर, दक्षिणमें शृंगेरी-नासिक और पश्चिममें उज्जयिनी-धारानगरी आदि जैसे प्रसिद्ध प्राचीन विद्यापीठ थे, वैसे पूर्वमें पाटलीपुत्र और नवद्वीप थे। ये

ही उस समयके राष्ट्रीय विश्वविद्यालय माने जाते थे। इन विद्यापीठोंसे ऐसे ऐसे शास्त्रकर्ता और प्रतापी महापुरुष निकले, जिन्होंने अपनी विद्वत्ता और कार्य्यकुशलतासे संसारकी समस्त मनुष्यजाति पर अपना प्रभाव जमा रक्खा है।

नवद्वीपके अन्तर्गत 'बूड़न' नामक ग्राममें उस समयके प्रसिद्ध विद्वान् और धार्मिक 'सुमति ठाकुर' पठन पाठन करते हुए आनन्दसे रहते थे। उनकी स्त्रीका नाम 'गौरी' था। वह भी सुशीला, सच्चरित्रा, पतिव्रता और विदुषी थी। गौरीको सन् १४४६ के मार्गशीर्ष मासमें एक पुत्र हुआ, उसका नाम हरिदास रक्खा गया। हरिदास देखनेमें सुन्दर, तेजस्वी, बुद्धिमान और शान्त-प्रकृतिके थे। हरिदास अपनी बाललीला भी पूरी न कर सके थे कि, अकस्मात् उनके पिताका देहान्त हो गया। गौरीने पतिके साथ सहगमन किया। दोनों एक साथ चितापर चढ़कर जल गये। हरिदास अनाथ हुए। हरिदासकी अवस्था ५।६ वर्षोंसे अधिक नहीं थी।

स्त्रियोंका सती होना प्रेमकी उत्कटताका परिचायक है सही, पर उससे कलियुगमें निराधार सन्तानको कैसे कष्ट सहन करने पड़ते थे, यह बात हरिदास जैसोंके उदाहरणसे स्पष्ट हो जाती है। उस समय बंगालमें यवनोंका बड़ा प्राबल्य था। यवन कर्मचारियोंने सुमति ठाकुरकी सम्पत्ति हरण कर हरिदासको एक काजीके हवाले कर दिया। काजीने हरिदासको महम्मदी दीक्षा दी और अपना धर्मग्रंथ कुरान पढ़ाना प्रारम्भ किया। कुछ दिनोंमें हरिदास यह बात भूल गये कि, मैं हिन्दू-सन्तान हूं। वे धार्मिक थे, इस कारण भक्तिभावसे कुरान और फारसी-अरबीका अभ्यास काजीकी आज्ञानुसार करने लगे। ८।१० वर्षों तक हरिदासने कुरानपर पूर्ण विचार किया। परन्तु उनके हृदयमें शान्ति नहीं हुई। ज्यों ज्यों उन्होंने धर्म-ग्रंथ देखे, त्यों त्यों उनकी तत्त्वजिज्ञासा बढ़ने लगी।

उस देशमें 'अद्वैत महाप्रभुका' उस समयमें बोलबाला था। उनकी भक्तिरसपूर्ण कथाएँ सुनकर उनके निकट हरिदास उपदेश ग्रहण करनेके लिये गये। अद्वैत समाधि चढ़ाकर बैठे थे। समाधि खुलनेपर उन्होंने अपने आगे हाथ जोड़ कर खड़े हुए एक यवनको देखा। कुशल प्रश्न पूछनेपर हरिदासने अपनी इच्छा प्रकट की। उस समयमें यवनके छुए कुएँका पानी पीनेसे भी हिन्दू मुसलमान हो जाता था। अद्वैत, मुसलमानको मन्त्रोपदेश कैसे दे सकते थे? परन्तु महात्माओंकी दृष्टिमें जातिभेद नहीं होता। अद्वैतने हरिदासकी भक्ति देख, उन्हें 'हरिनाम' से दीक्षित किया। हरिदास 'कोनिया' नामक ग्रामके निकट निर्जन स्थानमें कुटीर बनाकर गुरुसेवा करते हुए रहने लगे। उन्होंने वहाँ शास्त्रोंका अच्छा अध्ययन किया और पठन पाठन, हरिभजन करते हुए वे ज्ञानके—अद्वैतके—सागरमें निमग्न हो गये। अनन्त जिज्ञासु हरिदासके आचार-व्यवहारसे मुग्ध होकर उनके ज्ञानोपदेशसे कृतार्थ होनेलगे।

जब यह बात काजीने सुनी कि, हरिदास हिन्दू हो गये, तब उसने हरिदासको हर तरहसे समझा बुझाकर पुनः मुसलमान बनानेका प्रयत्न किया। यद्यपि हरिदास यही जानते थे कि, मैं मुसलमान-सन्तान हूँ. तथापि हिन्दुओंके अध्यात्मशास्त्रमें रँगकर उन्हें मुसलमानी धर्म फीका लगने लगा, इस कारण उन्होंने काजी की एक भी बात नहीं मानी। लाचार हो, काजीने नवाबसे कहा,—'हुजूर! एक मुसलमान हिन्दू होकर काफर बन गया है।' मुसलमान उस समयमें अत्याचारके पुतले हो रहे थे। नवाबने आज्ञा दी कि, उस काफिरकी खाल खींचकर मार डालो। भगवान्‌की आज्ञाओंका उल्लंघन भले ही होता हो; नवाबकी ऐसी आज्ञाका तुरन्त पालन करना पड़ता था। हरिदास पकड़े गये। पहिले उन्हें बाँधकर बेतोंसे मारा। फिर चमड़ेके कोड़ोंसे उनकी खाल

खींची गई और अन्तमें अग्निमें लाल की हुई लोहे की शलाकाओंसे वे दागे गये। हरिदास अन्त तक महम्मदी धर्म ग्रहण करनेपर राजी नहीं हुए। जब वे वेदनाओंको न सहकर निश्चेष्ट हुए, तब उन्हें कबरमें गाड़ देनेकी आज्ञा हुई। वधिक उन्हें श्मशानमें ले गये। शरीरमें कुछ हवा लगनेपर हरिदास दुःखसे छटपटाये। काजी तथा नवाब आदि समझ चुके थे कि, हरिदास मर गये। परन्तु इन्हें छटपटाते देख, वधिकोंने जाकर काजीसे सब हाल कहा। जीवित मनुष्यको दफन करना महम्मदी-धर्मके विरुद्ध होनेके कारण काजीने उन्हें जलमें फेंक देनेको कहा। हरिदासकी लाश त्रिभुवन-पावनी गंगाजीमें प्रवाहित कर दी गई। हरिदास बहते हुए 'सप्तग्राम' नामक स्थानमें जा लगे। वहाँ उन्हें चैतन्यलाभ हुआ अथवा यों कहिये कि, सप्तग्राममें उनका पुनर्जन्म हुआ। वहाँके लोगोंको हरिदासने अपनी कर्मकथा सुनाई। चाँदपुरके परमभक्त बलराम आचार्य्य वहाँ उपस्थित थे। उन्हे हरिदासपर दया आई। यद्यपि यवनोंके प्रवेशसे ही उस समय गृह अपवित्र हो जाता था, तथापि उसकी पर्वाह न कर बलिराम आचार्य अपने घर ले आये। सेवा-शुश्रूषा कर जब बलिराम आचार्य्यने हरिदासको चङ्गा कर दिया, तब दोनों बड़े प्रेमसे शास्त्रचिन्ता और हरिभजन करते हुए आनन्दपूर्वक कालक्षेप करने लगे।

अब भी दुर्भाग्यने हरिदासका पीछा नहीं छोड़ा। आचार्य्यके पास नवाबी तहसीलदार गोबर्धनदासका एकमात्र पुत्र रघुनाथदास पढ़नेके लिये रहा था। आचार्य्य तहसीलदारके कुल-पुरोहित थे। आचार्य्य और हरिदासके वार्तालाप सुनकर रघुनाथदास धर्मजिज्ञासु बन चला। वह भी प्रतिदिन हरिभजन और शास्त्रचिन्ता करने लगा। यहाँ तक कि, शास्त्रीय विषयोंके आगे गुलामीकी व्यावहारिक शिक्षा उसे फीकी मालूम होने लगी। यह देख, तहसीलदारने आचार्य्यको

डाँटा और हरिदासको घरसे निकाल देनेकी आज्ञा दी। बेचारे हरिदास आचार्यके घरसे बाहर होकर गङ्गातटपर स्थित शान्तिपुर नामक स्थानमें आ बसे। जहां सज्जनोंका वास होता है, वही तीर्थ माना जाता है। हरिदासके आ बसनेसे थोड़े ही दिनोंमें शान्तिपुर एक तीर्थक्षेत्र हो गया। हरिदासके दर्शनोंको असंख्य जनसमूह आने लगे।

शान्तिपुरके कुछ जमींदारोंको हरिदासके वैराग्यकी परीक्षा करनेका हौसला हुआ। उन्होंने बहुत धन वस्त्र हरिदासको भेंट दिये। हरिदासने उनका ग्रहण न कर गरीबोंको बाँट देनेकी आज्ञा दी। वास्तवमें कनक-कान्ताकी अनिच्छा ही वैराग्यका सच्चा लक्षण है। विश्वामित्र, पराशर आदि वातभोजी, पर्णभोजी ऋषियोंको भी अब कनककान्ताके मोहने पछाड़ा; तब हरिदास किस खेतकी मूली थे ? पर हरिदासने दोनोंको तुच्छ समझा। आजकलके जटा-डाढ़ी बढ़ाने वाले स्वयंमन्य जीवन्मुक्त पूज्यपाद नकली संन्यासियोंकी पंक्तिमें बैठानेके योग्य हरिदास नहीं थे। वे अपने विवेक-वैराग्यसे अन्त तक नहीं डिगे। हरिदासको धनका लोभ नहीं है, यह जान कर जमींदारोंने उनके पास रात्रिके समय उस देशकी एक सर्वाङ्ग-सुन्दरी युवती वेश्याको भेजा। हरिदास हरिभजनमें मग्न थे। युवतीको देख हरिदासने थोड़ी देर तक उसे ठहरनेको कहा; परन्तु हरिभजनमें ही सारी रात बीत गई। प्रातःकालमें लाचार होकर वेश्या घर लौट आई। द्रव्यलोभसे उसे पुनः दूसरे दिन हरिदासके पास जाना पड़ा। रोज वह जाती और हरिदास उसे बैठाकर हरिभजन करने लगते। महीनों इसी तरह बीत गये। नित्य हरि-भजन सुनते सुनते वेश्याके मनमें भी भक्तिका सञ्चार हुआ। एक दिन उसने अपना सब कपट हरिदाससे कहकर उनसे क्षमा माँगी और मन्त्रोपदेश देनेका निवेदन किया। वेश्याके हृदयमें वैराग्य

उत्पन्न हुआ जानकर हरिदासने उसे हरिनामसे दीक्षित किया। वेश्याने पश्चात्तापपूर्वक अपना पेशा छोड़, प्रायश्चित्तार्थ आजन्म ब्रह्मचर्य्यसे रहनेका सङ्कल्प किया और अपनी सब सम्पत्ति ब्राह्मणोंको दान कर, साधुवेषसे हरिनाम भजन करती हुई वह जीवन सार्थक करने लगी। जमींदार अपनासा मुँह लेकर रह गये। सबको श्रद्धा हो गई कि, हरिदास असाधारण पुरुष हैं।

हरिदास वैष्णवधर्मके प्रचारमें प्रवृत्त हुए। फारसी, अरबी, संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओंके अनुकूल-प्रतिकूल धर्मग्रन्थोंका अच्छा अध्ययन होनेके कारण उनके सात्विक चरित्रकी शोभा अधिक बढ़ गई थी। उनका एक एक शब्द लोगोंपर मन्त्रोंका काम करता था। हरिदास सर्वोत्तम वैष्णव माने जाने लगे। भ्रमण करते हुए वे नवद्वीपमें पहुँचे। वहाँ चैतन्यदेवसे उनका साक्षात्कार हुआ। चैतन्यदेव हरिदास जैसे परम भगवद्-भक्त अनन्य वैष्णवको पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। दोनों गले लग कर मिले। दोनोंके नेत्रोंसे आनन्दाश्रुओंकी धाराएँ प्रवाहित हो चलीं। दोनों परमानन्द सागरमें निमज्जन करने लगे। चैतन्यदेव नीलगिरिपर गये। हरिदास भी साथमें थे। वैष्णवोंका हरिनाम-घोष दिग्मण्डलमें गूँज रहा था। चैतन्य और हरिदासके हृदयोद्गार षड्ज और पञ्चमके अचल स्वरोंके समान श्रोताओंके हृदय-मन्दिरमें कर्णपथसे जाकर भगवान्‌की मनोमयी मूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा कर रहे थे। यवनोंके अत्याचारसे जो वैष्णवधर्म निर्मूल होने वाला था और जिसका अवलम्बन करनेसे हरिदासको प्राणान्त तकके कष्ट सहन करने पड़े थे, वही वैष्णवधर्म हवाकी तरह फैलने लगा। हरिदासके मिलनेसे चैतन्यको धर्मप्रचारमें अधिक सफलता प्राप्त हुई। यदि हरिदासको कष्ट न पहुँचाये जाते, तो वैष्णवधर्म जोर न पकड़ सकता; परन्तु यवन अधिकारियोंकी अदूरदर्शितासे ऐसा

नहीं हुआ। दूसरोंके धर्मपर हमला करनेवाले खुदका राज्य खो बैठे। लोगोंमें उनकी निन्दा हुई और अभीतक मुसलमान जाति अत्याचारियोंमें गिनी जाती है। जो स्फूर्ति भगवान्‌की प्रेरणासे होती है, उसका दमन करना मनुष्यकी शक्तिसे बाहर है।

नीलगिरिपर चैतन्यदेवके साथ हरिदास बहुत दिनों तक धर्मकार्य्य करते थे। नवद्वीप पहुंचनेपर उन्हें पता लग गया था कि, मैं सुमति ठाकुर और गौरीदेवीसे उत्पन्न हुआ हिन्दू सन्तान हूं। इस शुभवार्तासे हरिदासको जैसा आनन्द हुआ, वह शब्दोंमें लिखा नहीं जा सकता। हरिदास जन्म, कर्म और विचारसे हिन्दु हुए। हरिदासने ५०।५५ वर्षोंकी अवस्थामें इहलोककी लीला समाप्त की। उनके देहान्तके समय चैतन्यदेव दलबलसहित कीर्तन करनेके लिये उनके घर गये थे। हरिदासने भी हरिभजन करते हुए देह विसर्जन किया। हरिदासके देहान्तके पश्चात् चैतन्यदेव वैष्णवदलके साथ ही नामका जयघोष करते हुए उनको प्रेतयात्रामें सम्मिलित हुए। हरिदासके मृत देहका समुद्रतटपर अद्भुत सत्कार हुआ। जहाँ हरिदासकी समाधि बनी है; वहाँ अभीतक प्रतिवर्ष मेला लगता है। हरिदासने अपने उदाहरणसे सिद्ध कर दिया कि, अपने सत्य मतोंपर जिसकी पूर्ण निष्ठा है और उन मतोंके लिये जो मरनेके लिये भी तैयार हो जाता है, उसका अन्तमें निःसन्देह विजय होता है। हरिदासके चरित्रसे रक्तका प्रभाव भी प्रकट होता है। केवल कर्मसे ही नहीं, जन्मसे भी वंशानुगत गुणोंका विकास स्वाभाविकरूपसे होता है।

—०:*०:—

गुरु नानकशाह ।

——:०*०:——

लाहौर जिलेमें रावी नदीके तटपर स्थित तालबन्दी नामक ग्राममें सन् १४६९की कार्तिक सुदी १५ की मध्यरात्रिमें 'कालूवेदी' नामक क्षत्रियके घर 'त्रिपता' नामकी सहधर्मिणीकी गर्भसे गुरु नानकका जन्म हुआ था। उनका नाम पुरोहितके सम्मतिसे 'नानक निरङ्कारी' रक्खा गया। ५—६ वर्षोंकी अवस्थामें ही उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर ली थी। बचपनसे ही परमार्थसाधनकी ओर उनका विशेष ध्यान होनेके कारण कभी कभी गुरुजीसे नया पाठ पाकर हँसते हुए वे कह देते थे,— "सुनो पाण्डे! क्या लिखा जञ्जाला—लिखो रामनाम गुरुमुख गोपाला।"

एक दिन नदीतटपर बैठ, कुछ ब्राह्मण पितृतर्पण कर रहे थे। यह देख बालक नानक भी तर्पण करने लगे। ब्राह्मणोंने कहा,— "बच्चे! यह तू क्या कर रहा है?" नानक बोले,—"आप क्या कर रहे हैं?" ब्राह्मणोंने कहा,—"हम अपने पितरोंको जल दे रहे हैं।" नानकने कहा,—"मैं अपनी जन्मभूमि तालबन्दीके तरकारीके खेतमें जल दे रहा हूं?" ब्राह्मण बोले,—"यहाँसे वहाँ जल कैसे पहुँचेगा?" नानकने उत्तर दिया,—"मेरा ग्राम यहाँसे निकट है। वहाँ यदि यहाँका दिया जल नहीं पहुंच सकता, तो परलोकके पितरोंको कैसे पहुंचेगा।" ब्राह्मणोंने नानककी बुद्धिमत्ता देखकर कहा,—"बच्चे! इसका गूढ़ रहस्य समझनेकी बुद्धि इस समय तुझमें नहीं है। कुछ दिन और पढ़नेसे आप ही इसका रहस्य तू समझ लेगा।" नानक समझते थे कि, मैं सब कुछ पढ़

चुका, परन्तु ब्राह्मणोंके बचनसे उनका भ्रम दूर हुआ और वे हिन्दु-धर्म-शास्त्र तथा मुसलमानोंके धर्मग्रन्थ पढ़ने लगे। थोड़े ही दिनोंमें उन्होंने दोनों धर्मोंका अच्छा ज्ञान कर लिया। कालू उनका यज्ञोपवीत संस्कार करने लगे, तब नानक यज्ञोपवीत पहिरनेको प्रस्तुत नहीं हुए और कहने लगे,—"इन डोरोंसे चित्तशुद्धि नहीं हो सकती। सन्तोषके धागोंमें इन्द्रिय-निग्रहकी गाँठ देकर जो यज्ञोपवीत बनेगा, उसे पहिरने और सत्यका दण्ड ग्रहण करनेसे ही चित्तशुद्धि होगी।" परन्तु माता पिताके धमकानेपर उन्होंने यज्ञोपवीत धारण कर लिया।

नानकको नमकका व्यवसाय करनेके लिये कालूने कुछ रुपये दिये। परन्तु विदेश जाकर मार्गमें मिले हुए साधु और दीन दरिद्रोंको उन्होंने वे रुपये बाँट दिये। कालू तहसीलदार थे। बादशाहके सेवकको ईश्वरभक्त पुत्र हुआ। कालूको उनके सहकारी कहा करते थे कि,—"यदि नानकको इसी तरह छोड़ दोगे, तो वह बिगड़ जायगा। उसका विवाह कर देनेसे उसकी मति सुधर जायगी और वह गृहस्थीका काम करने लगेगा।" नानककी बहिन जानकीने समझा बुझा कर नानकका विवाह कर दिया। कालूने साधुओंको रुपये बाँट देनेके कारण नानकको बहुत झाड़ा फटकारा और खेती करनेको कहा। वह काम भी नानक न कर सके। फिर उन्हें गाय भैंस चरानेका काम दिया गया। उसमें भी नानक 'फेल' हुए। तब जानकीके पति जयरामने उन्हें दौलतखाँ लोदीकी अधीनतामें एक नौकरी दिला दी। कुछ दिन नानकने नौकरी कर गृहस्थी की। श्रीचन्द्र, उदासीसम्प्रदायके प्रवर्तक और लक्ष्मीदास नामक उन्हें दो पुत्र भी हुए। पर उनका चित्त कहीं नहीं लगता था। एक दिन नौकरी और सब कुटुम्बियों-को त्याग कर वे साधुवेशमें देष सञ्चारार्थ घरसे निकल पड़े।

घरसे जानेके पूर्व पिताने उनसे कहा,—"बेटा! हमारे तुम ही एक मात्र आधार हो। इस वृद्धावस्थामें हमें सम्हालना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम खेती करो, दूकान करो या कोई नौकरी ही कर लो। गृहस्थीसे मुँह मोड़ना तुम्हें उचित नहीं है।" नानकने उत्तर दिया,—"पूज्य पिताजी! आप कहते हैं, सो ठीक है। मैंने तीनों काम आरम्भ कर दिये हैं। इसमें आप भी सम्मिलित हो जायँ। सत्सङ्गसे हमारा मन कृषक बना है, जीवन हमारा खेत है, सत्कर्म रूपी हलसे यह जोतकर प्रेमजलसे इसे सींचते हैं, हरिनामका बीज उसमें बोते हैं और सन्तोषकी मेढ़से उसे सुरक्षित रखते हैं। हमारा कृषकों जैसा दरिद्र वेष है और हम भक्तिकी फसल संग्रह करते हैं। भक्तवत्सल भगवान् हमारे जमींदार हैं। उन्हींकी जमींदारीमें हम बसे हैं। इसीके साथ हमने एक दूकान भी खोल दी है। हमारा मन भण्डार घर है। हरिनामके रत्न उसमें भरे हैं और साधुगण इसके ग्राहक हैं। इस व्यापारमें अच्छा लाभ है। कभी कभी नौकरी भी करता हूं। मेरे स्वामीका नाम है, निरङ्कार। उन्हींकी सेवासे सुख मिलता है। वे जब मुझपर प्रसन्न हो जायँगे, तब मुझे पाने योग्य वस्तु संसारमें कुछ भी नहीं रहेगी।"

पिताने समझा, नानक पागल हो गया है। वे एक अच्छे वैद्यको उनकी चिकित्साके लिये ले आये, परन्तु नानकने वैद्यको ज्ञानोपदेश देकर बिदा कर दिया। फकीरी वेषमें नानकने काबुल, अफगानिस्तान, कन्दहार, मक्का, मदीना, ईरान, फारस, रूम आदि नगरों और देशोंमें परिभ्रमण कर मुसलमानोंको धर्मोपदेश दिया। उन देशोंकी जनता और राजाओंने नानकका बहुत आदर किया। संवत् १५६० में २० दिनोंके अन्तरसे नानकके माता पिताका देहान्त हो जानेपर नानकने दक्षिण भारत और गुजरातके तीर्थ स्थानों तथा प्रयाग, काशी, गया, जगन्नाथपुरी आदि पुण्य धामोंकी यात्रा की।

मक्काकी मसजिद्‌की ओर पैर कर नानक सोये थे, इससे चिढ़कर एक मुसलमानने उनके पैर हटा दिये। परन्तु जिस ओर नानकके पैर होते हैं, उसी ओर मसजिदका द्वार घूम जाता है, यह देख मुसलमान बहुत ही लज्जित हुए। इसी तरह पुरीमें मुसलमान समझ कर उन्हें पण्डोंने प्रसाद नहीं दिया। परन्तु रात्रिमें स्वयं भगवान्‌ने आकर उन्हें खिलाया और पण्डोंकी प्रतीतिके लिये जहाँ नानक ठहरे थे, वहाँ एक क्षणमें एक कुआँ बनाया। बुद्धा नामकी एक वृद्धाकी प्रार्थनासे एक शुष्क पुष्करिणी नानकने जलसे भर दी। वही 'अमृतसर' नामसे प्रसिद्ध है। इन चमत्कारोंको देख, हिन्दु-मुसलमान दोनोंकी नानकके प्रति समानरूपसे श्रद्धा हुई और उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गई।

यात्रासे लौट आनेपर नानक कुछ दिन सुलतानपुरमें रहे। वहाँ जिस वृक्षके नीचे बैठकर वे साधना करते थे, उसको 'बाबाकी बेर' और बनके जिस भागमें बैठकर उन्होंने तपस्या की, उसे 'रोरी साहब' कहते हैं। उनका मत था कि, क्या हिन्दु, क्या मुसलमान, भगवद्भक्तिके विषयमें दोनों समान अधिकारी हैं। नानकके सदुपदेश सुन, बाला, मरदाना, भगीरथ, मनसुख, अङ्गद आदि अनेक भक्त उनके शिष्य बने और भक्तोंकी वृद्धि होनेसे उनका एक पन्थ ही चल गया। इस पन्थके अनुयायियोंको शिष्य (सिक्ख) कहते हैं। एक बार इब्राहिम लोदीने काफर समझकर नानकको कारागृहमें रख दिया था। परन्तु सात मास कारावास भोग कर सन् १५२६ में बाबर द्वारा लोदीके पराजित होनेपर वे छूट गये और तबसे कर्तारपुरमें एक भक्तके बनवाये हुए भवनमें रहने लगे। वहीं सन् १५३९ ईसवीमें नानकका देहावसान हुआ। हिन्दु मुसलमानोंमें उनके देहको जलाने-गाड़नेके सम्बन्धमें बड़ा झगड़ा मचा। परन्तु चमत्कार यह हुआ कि, उनके मृत देहसे चादर उठाते ही

देह अदृश्य हो गया। तब वही चादर दो टूक कर हिन्दु मुसलमानोंने बाँट ली और दोनोंने अपने अपने धर्मानुसार उसका अन्तिम सत्कार किया।

नानक भगवद्भजनके बड़े प्रेमी थे। उन्होंने सहस्रों भजन बनाये, जो संगृहित होकर 'ग्रन्थसाहब' के नामसे प्रसिद्ध हुए। गुरुनानक पद्य बनाते और उनके शिष्य मरदाना उन्हें दिलरुबा बजा कर गा कर सुनाया करते थे। ये सब गाने पंजाबी भाषामें बने हैं और गुरुमुखी लिपीमें लिखे हैं। नानककी गद्दीपर उनके पश्चात् दस महापुरुष बैठे। उनके नाम और कार्य इस प्रकार हैं, १-गुरुनानक (सिक्ख धर्म संस्थापक) २-अङ्गद (सिक्ख धर्मके प्रथम प्रचारक) ३—अमरदास (द्वितीय प्रचारक) ४—अमरदासके जामाता रामदास (अमृतसरके 'गुरुद्वारा' के प्रतिष्ठाता), ५—रामदासके पुत्र अर्जुन (गुरुनानक और अन्य भक्तोंकी रचनाओंको संगृहीत कर 'ग्रन्थसाहब' को प्रस्तुत करनेवाले), ६—अर्जुनके पुत्र हरगोविन्द (मुसलमानोंके साथ युद्ध करनेवालोंमें प्रथम), ७—हरगोविन्दके पुत्र हरराय (सिक्खदलका सङ्गठन करनेवाले), ८—हररायके पुत्र हरकिसन (सिक्खोंको उत्तेजित करनेवाले), ९—हरगोविन्दके भ्राता तेगबहादुर (सिक्ख सेनाके नायक) १०—तेगबहादुरके पुत्र गुरुगोविन्द (इन्होंने सिक्खदलको रणकुशल बनाया) इनके पश्चात् सुयोग्य शिष्यके न होनेसे गुरुसाहबकी गद्दीपर आजतक कोई नहीं बैठा। वह केवल पूजी जाती है।

अफ़गान आमेदखाँने सन् १७६२ में सिक्खोंको हराकर अमृतसर नगर हस्तगत कर नानकनिर्मित सरोवरके बीचमें बना हुआ गुरुद्वारा तोपसे उड़ा दिया था। सिक्खकुलचूड़ामणि रणधुरन्धर महाराज रणजीत सिंहने बीरताके साथ मुसलमानोंसे लड़ कर

सन् १८०२ में वह तीर्थस्थान छुड़ा लिया और उसका उद्धार कर समस्त मन्दिर सोनेसे मढ़ दिया तथा चिरकालस्थायी उसका प्रबन्ध कर दिया। तबसे उस मन्दिरको 'स्वर्णमन्दिर' कहते हैं और वही सिक्खोंका प्रधान पीठ या क्षेत्र माना जाता है। मुसलमानों द्वारा सिक्खोंको लोमहर्षण अमानुषिक अत्याचार सहन करने पड़े, पर अन्तमें सत्यकी जीत होकर गुरुनानकके पुण्यसे सिक्खधर्म जगत्में फैल गया और जगत्की वीर जातियोंमें सिक्ख गिने जाने लगे।

मुसलमान धोखा देकर हिन्दुओंको धर्मभ्रष्ट करते थे। इस अत्याचारसे बचनेके लिये सिक्खधर्ममें पञ्च-ककारोंकी व्यवस्था की गई। मानव जातिमें प्रेम स्थापित करते हुए उसे ईश्वरोन्मुख करना ही नानकके जीवनका उद्देश्य था। उनके पन्थकी रचना और उनके समयका विचार करते हुए यही कहना पड़ता है कि, वह उद्देश्य अधिकांशमें सफल हुआ है। आत्मरक्षा, भगवत्प्रीति, कर्म-कौशल और परोपकारकी शिक्षा गुरुनानकके चरित्रसे मिलती है।

महात्मा कबीर।

विक्रमीय १५ वीं शताब्दिके उत्तर भागमें काशीके निकटके किसी छोटेसे गाँवमें एक ब्राह्मणी विधवाके गर्भसे कबीरका जन्म हुआ था। यह गर्भ किसी महात्माका होने-पर भी, दुष्कीर्तिके भयसे बालक होते ही उसे वह विधवा गङ्गातटपर खेतमें रख आई। नवजात बालकका रोना सुन, 'ईलू' नामक जुलाहा—जो पासमें ही रहता था—उसे उठा लाया और

वह पुत्रहीन होनेके कारण, 'खुदाने बच्चा दिया' समझ कर उसने बड़े प्रेमसे उसे पाल पोसकर जिला लिया और उसका नाम 'कबीर' रक्खा।

कबीर यद्यपि अनार्यों द्वारा पाले गये, तथापि उनका आर्य-रक्त होनेके कारण आर्य तत्त्वज्ञानकी ओर उनकी स्वाभाविक अभि-रुचि थी। ईलूने उनका एक यवनकन्यासे विवाह कर कपड़ा बुननेकी कला उन्हें सिखला दी थी। वे कपड़ा बुनकर जो कुछ कमाते, गृहस्थीमें आवश्यक व्यय कर, शेष धन, दीन दरिद्रोंको बाँट देते थे। वे गृहस्थीमें अनुरक्त या उससे विरक्त भी नहीं थे। कपड़ा बुनते हुए वे भजन बना बना कर गाया करते और ईश्वर-प्रेममें रंग जाते थे। जब उन्होंने आर्यशास्त्रोंका अनुशीलन किया, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि, बिना गुरूपदेशके साधकका कल्याण नहीं होता, इससे वे सद्गुरुको ढूँढने लगे। परन्तु यवन होनेके कारण उन्हें आर्य गुरु कहाँ मिलते?

सत्य सङ्कल्पका फल परमात्मा अवश्य देता है। तदनुसार जहाँ वे रहते थे, वहीं श्रीरामानुजाचार्यके प्रधान शिष्य श्रीरामानन्द स्वामी दिग्विजय करते हुए सौभाग्यवश आ पहुँचे। कबीरने उन्हीं-से मन्त्र ग्रहण करनेका निश्चय किया। यवनोंको स्वामीजी मन्त्रो-पदेश नहीं करते, यह कबीर जानते थे। इस कारण उन्होंने एक ढङ्ग रचा। रामानन्द स्वामी उषः कालमें प्रतिदिन गङ्गा नहाने आते थे। एक दिन कबीर उनके मार्गमें मृतवत् होकर जा पड़े। अभी प्रातः कालका प्रकाश नहीं हुआ था। स्नानकर रामानन्द लौट रहे थे कि, मार्गमें पड़े हुए कबीरसे उनका पैर छू गया। उन्होंने समझा कोई मुमूर्षु पड़ा है। तुरन्त वे बोल उठे,—"राम कहो, भाई! राम बोलो!" बस्—कबीरका काम बन गया। तुरन्त उठकर उन्होंने गुरुजीको प्रणाम किया और घरका रास्ता लिया। माथा मुँडवा कर

तिलक-माला धारण किये हुए जब वे घर पहुँचे, तब उनकी माता और स्त्रीने समझा कि, कबीर सनक गये हैं।

कबीर अपनेको रामानन्द स्वामीके शिष्य बतलाने लगे। यह बात फैलते फैलते जब स्वामीजीके कानोंतक पहुँची, तब उन्होंने कबीरको बुला कर पूछा कि,—"मैंने तुमको कब उपदेश दिया है?" इसपर कबीरने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। रामानन्दने योगबलसे जान लिया कि, कबीर ब्राह्मणकुमार है, तब उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई और उन्होंने अपने १२ शिष्योंमें कबीरको प्रधान बनाया। कबीरकी माताने जाना कि, कबीर सनके नहीं, किन्तु वास्तवमें विधर्मी हुए हैं। उसने दिल्लीके बादशाह सिकन्दर लोदीके इजलासमें कबीरपर दावा किया कि, रामानन्दके फुसलानेपर कबीर काफ़र बनगया है, इसको उचित दण्ड मिलना चाहिये। तदनुसार बादशाहने कबीरको कारागृहमें ठूँस दिया; पर कुछ दिनोंके पश्चात् कबीरकी उच्च तत्त्वज्ञानकी बातें सुन, बादशाहने उन्हें छोड़ दिया। इससे पहिले ही कबीरके धर्म-पिता ईलूका देहान्त हो गया था।

कारावास भोग कर रामानन्दकेपास कबीर लौट आये और गूढ़ शास्त्रालोचना करने लगे। कभी कभी उनकी शङ्काओंका समाधान करना रामानन्दको कठिन हो जाता था, इससे गुरुशिष्यमें मनोमालिन्य बढ़ने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि, रामानन्दसम्प्रदायको छोड़, कबीरने अपना एक नवीन सम्प्रदाय चलाया, जिसे इस समय 'कबीरपन्थ' कहते हैं। इस पन्थका प्रचार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर भारत तथा बिहारप्रान्तमें विशेष हुआ। कबीरपन्थियोंके अनेक स्थानोंमें अब भी अनेक मठ-मन्दिर विद्यमान हैं, उनमें काशीका मठ सर्वप्रधान है।

कबीरको स्त्रीसे कोई सन्तान नहीं हुई। परन्तु गङ्गाजीमें बहते हुए एक मुर्देको जिला कर उसे पुत्ररूपसे उन्होंने मान लिया था। घर

लाकर उसका नाम 'कमाल' रक्खा। कमालभी कबीरके समान तपस्वी और वैराग्यवान् हुए। इन्होंने भी कई निर्गुणके भजन बनाये, जो अबतक परम्पराक्रमसे लोगोंके कण्ठस्थ हैं। कबीर-की ग्रन्थरचना प्रचण्ड है। कपड़ा बुनते हुए वे जो भजन बनाते, सो सब उनके शिष्य लिख रखते थे। उस संग्रहसे कितने ही ग्रन्थ बने, जिनमें 'बीजक' सर्वोपरि है। इसमें उन्होंने अपने पन्थके सब सिद्धान्त ग्रथित किये हैं। कबीरके गुरु वैष्णवाचार्य रामानन्द और शैवमतके प्रचारक गोरक्षनाथ, दोनों ही इनके प्रतिद्वन्द्वी थे। उनसे कबीरका जो शास्त्रार्थ हुआ और कबीरने उनपर अपने मतोंका प्रभाव डाला, उसका वर्णन 'रामानन्दकी गोष्ठी' और 'गोरखनाथ-की गोष्ठी' इन दो ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ किया गया है। कबीरके आश्चर्यजनक, भक्तिरसपूर्ण और उपदेश भरे पद्योंको सुन, महा-नास्तिक भी भगवद्भावमें क्षणमात्र तल्लीन हो, डोलने लगता है और उसके हृदयमें वैराग्यका उदय हो जाता है। उनके पदोंमें अजब जादू भरा है।

कबीरका गोरखपुर जिलेके 'मगर' ग्राममें सोलहवीं शताब्दीके मध्यमें देहावसान होनेपर नानककी तरह उनके भी दाह और दफ़नके सम्बन्धमें हिन्दु-मुसलमानोंमें झगड़ा हुआ; क्योंकि कबीर हिन्दु-मुसलमान दोनोंको उपदेश दिया करते थे। उस समय भी नानककी तरह उनकी देह अदृश्य हो गयी और चादरके नीचे एक गुलाबका फूल मिला, जो हिन्दु मुसलमानोंने आधा आधा बाँट लिया। मुसलमानोंने मक्कामें जाकर उन्हें दफ़नाया और हिन्दुओंने काश्मीरमें उनका दाहसंस्कार किया। हीन कुलमें उत्पन्न होनेपर भी मनुष्य भगवद्भक्तिसे परमपदको पा सकता है, यही शिक्षा कबीरके चरित्रसे मिलती है।

गोस्वामी तुलसीदास।

बांदा जिलेके अन्तर्गत राजापुर नामक ग्राममें आत्माराम दुबे नामक एक कान्यकुब्ज ब्राह्मणके घर लग भग संवत् १५८९ में तुलसीदासजीका जन्म हुआ था। उनकी माताका नाम हुलसी था। आत्माराम और हुलसी दोनों परम भगवद्भक्त थे, इसीसे उन्हें तुलसीदास जैसा सुपुत्र हुआ। परन्तु पुत्रका उत्कर्ष अपनी आँखोंसे देखनेका सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। वे तुलसीदासको ८ वर्षोंकी अवस्थामें ही छोड़ कर स्वर्ग चल बसे। मातृ-पितृहीन तुलसीदासको महात्मा नरहर गोस्वामीने पालपोस कर बढ़ाया, काशीमें भेजकर वेद शास्त्रोंका अध्ययन कराया, राममन्त्रका उपदेश देकर कृतार्थ किया और यथासमय दीनबन्धु पाठक नामक एक कुलीन कान्यकुब्ज ब्राह्मणकी कन्या रत्नावलीके साथ उनका विवाह कर दिया। गुरुगृह छोड़कर अब तुलसीदास स्त्रीको लेकर पृथक् रहने और अध्यापकीय कार्य्यसे जीवननिर्वाह करने लगे।

रत्नावली परम सुन्दरी, सुशीला, चतुरा और पतिपरायणा थी। गोस्वामीजी उसपर इतने अधिक रीझे कि, पठन-पाठन, भजन-पूजन सब छोड़, एक घड़ी भी उससे पृथक् नहीं होते थे। गृहस्थीके नियमानुसार काम पड़नेपर पाठकजीने कई बार कन्याको मायके बुलाया, पर तुलसीदासजीने कभी नहीं भेजा। एक दिन संयोग-वश वे कहीं बाहर गये थे, इतनेमें पाठकजीका मनुष्य रत्नावलीको बुलाने आया। वह तुरन्त उसके साथ नैहर चली गयी। तुलसी-दासजीको जब यह समाचार विदित हुआ, तब वे स्त्री-विरहसे व्याकुल हो उठे। उनसे रहा नहीं गया। रात्रिके समयमें अन्धकार

और वर्षाका विचार न कर भींजते हुए गङ्गापार कर वे पाठक-जीके घर गुप्तरूपसे पहुँचकर पत्नीसे मिले। पत्नीको उनके इस तरह आनेसे आश्चर्य और उनकी स्त्रैणताको देख बड़ा विषाद हुआ। वह बुद्धिमती थी, तौ भी उसने उनसे कह ही दियाः—

लाज न लागत आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेमको, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थिचर्ममय देह मम, तासों जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराममें, होत न तौ भवभीति॥

पूर्वजन्मार्जित पुण्यके प्रतापसे मनुष्यकी उन्नति होनेमें कोई न कोई निमित्त कारण हुआ करता है। तुलसीदासजीके चित्तमें वैराग्यका उदय होनेके लिये रत्नावलीके उक्त उत्तेजक वचन कारण हुए। तुलसीदासजीकी मति बदल गई। उनकी मनोवृत्तियाँ—जो बहिर्मुख थीं—अन्तर्मुख हो गईं। स्त्रीकी वचन-शलाकासे उनके हृदयका ज्ञानदीपक जल उठा। विषयसुखसे पराङ्मुख हो, भगवदाराधनाके द्वारा सच्चित्सुखको प्राप्त करनेका उन्होंने सङ्कल्प कर लिया। काशीमें लौट आकर वे राम-उपासनामें लवलीन हो गये। उन्हें भगवत्साक्षात्कार हुआ। कहते हैं कि, शौचक्रियासे बचा हुआ जल वे किसी पेड़की जड़में प्रतिदिन छोड़ दिया करते थे। वहीं एक वेताल रहता था। वह उस जलसे तृप्त होकर प्रसन्न हुआ। उससे तुलसीदासजीने रामचन्द्रके दर्शनकी इच्छा प्रकट की। उसने हनूमानजीका पता ठिकाना बताया। तुलसी-दासजी ब्राह्मणवेशधारी हनूमानजीसे मिले। उनकी कृपासे उन्हें रामचन्द्रजीके दर्शन हुए और उन्हींके अनुरोधसे गोस्वामीजीने संस्कृत भाषासे अपरिचित सर्वसाधारणके कल्याणके लिये हिन्दी भाषामें रामायणकी रचना की। यह रचना काशीमें आरम्भ हुई

और संवत् १६३१ में अयोध्यामें चैत्र शुक्ला ६ को समाप्त होकर जगत्में प्रकाशित हुई।

उपासनाके बलपर उन्होंने एक शरणापन्न ब्रह्महत्याकारी पुरुषको मन्त्रोपदेश कर, उसके हाथों विश्वनाथजीके पत्थरके नादियेसे भोजन कराया था और एक युवतीके मृतपतिको जिला दिया था। उनके घर एकबार एक चोर आया। उसने देखा, कोई धनुर्बाण-धारी पुरुष घरकी रक्षा कर रहा है। इससे उसके मनमें गोस्वामी-जीके प्रति श्रद्धा उपजी और वह उनका शिष्य बन गया। उनका जीवन ऐसे ऐसे अनेक चमत्कारोंसे भरा हुआ है। उन चमत्कारोंको देख, सहस्रों सज्जन उनके शिष्य बने और काशीके नवाबने बहुतसी भूमि धन आदि देकर उनका सम्मान किया। उस धनसे उन्होंने काशीमें महावीरके ११ मन्दिर और एक गङ्गाजीका घाट बनवाया। सङ्कटमोचन आदि हनूमानजीके मन्दिर और तुलसीघाट अब भी सब लोगोंको गोस्वामीजीका स्मरण करा देते हैं। एक बार दिल्लीश्वरने उन्हें बुलाकर कुछ चमत्कार दिखाने कहा, पर उन्होंने कहा,—"मैं कोई जादूगर नहीं, जो चमत्कार दिखाता फिरूँ।" इस उत्तरसे असन्तुष्ट हो, उन्हें दिल्लीश्वरने कारागृहवासका दण्ड दिया; परन्तु उनके बन्दीमें पड़ते ही दिल्लीमें बन्दरोंका उपद्रव बहुत बढ़ा। यह देख, सभासदोंने तुलसीदासजीको छोड़ देनेकी बादशाहसे प्रार्थना की। उनको छोड़ते ही बन्दरोंका उपद्रव भी थम गया। बादशाहने गोस्वामीजीका अच्छा आदर किया। उसी समय हिन्दीके प्रसिद्ध मुसलमान कवि रसखान (खानखाना) से गोस्वामीजीका परिचय हुआ और क्रमशः दोनोंमें घनिष्ठ मित्रता हो गई।

गोस्वामी तुलसीदासजी केवल उपासक ही नहीं, किन्तु उत्तम कवि भी थे। इनकी सुधास्यन्दिनी कवितापर मुग्ध हो, किसी कविने कहा है:—

सूर सूर्य्य तुलसी शशी उडुगण केशवदास।
अबके कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

रामायण (रामचरितमानस) के अतिरिक्त गोस्वामीजीने गीतावली, विनयपत्रिका, वैराग्यसन्दीपिनी, जानकीमङ्गल, पार्वती-मङ्गल, राम सतसई, कृष्णगीतावली आदि लगभग २५-३० ग्रंथ बनाये; जिनमें रामायणका ही भारतवर्षभरमें विशेष प्रचार हुआ। भक्ति, कर्म और ज्ञानकाण्डका रामायणमें कुशलतासे सरल विवरण किया हुआ होनेके कारण पण्डित तथा अल्पज्ञ, आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुषोंको वह समानरूपसे आदरणीय हुआ है।

एक बार वृन्दावनमें श्रीकृष्णका दर्शन करने गोस्वामीजी गये। मुरली-मनोहरका सुन्दररूप देख भक्तिसे उनका हृदय गद्गद हो गया। परन्तु सब मूर्तियोंमें वे अपने इष्टदेव रामचन्द्रको देखते थे। इस कारण उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की कि,—"प्रभो! धनु-र्बाण धारण कर दर्शन दीजिये।" भक्तवत्सल भगवान्ने गोस्वामी-जीकी इच्छानुसार दर्शन दिया।

तीर्थयात्रा करते हुए गोस्वामीजी जब बलिया ग्राममें पहुँचे, तब उनकी वृद्धा पत्नी उनके शरणापन्न हुई, परन्तु उन्होंने अपने पास रहनेकी अनुमति नहीं दी और 'माता!' कहकर सम्बोधन किया था; क्योंकि वे उसे गुरु मानते थे। उसीकी कृपासे गोस्वामी-जीका जीवन-प्रवाह बदल कर सर्वविध उत्कर्ष हुआ था।

यद्यपि गोस्वामीजी वैष्णव थे, तथापि किसी देवतासे विरोध नहीं करते थे और स्थान स्थानपर उन्होंने अद्वैत सिद्धान्तको ही पुष्ट किया है। प्रबल पुरुषार्थ कर संवत् १६८० में काशीमें श्रावण शुक्ला ७ को गोस्वामीजीने इहलोककी लीला सम्वरण की। यद्यपि शरीरसे नहीं, तथापि ग्रन्थरूपसे वे अब भी जीवित हैं और जब-तक रामायण ग्रंथ संसारमें रहेगा, तब तक वे जीवित रहेंगे।

क्षुद्र विषय-वासनाओंसे मुँह मोड़कर भगवदाराधनामें तल्लीन होनेसे मनुष्यके द्वारा कितना अधिक जगत्कल्याणका कार्य्य हो सकता है, इसकी शिक्षा गोस्वामी तुलसीदासजीके चरित्रसे मिलती है।

—:*:—

सन्त तुकाराम।

पुण्यपत्तन (पूना) से दस कोस उत्तरकी ओर इन्द्रायणी नदीके तटपर 'देहू' नामक एक ग्राम है। वहां विश्वम्भर मोरे नामक एक शूद्र (कुनबी) रहता था, जो बड़ा विष्णुभक्त था। उसने उक्त ग्राममें विट्ठल या पाण्डुरङ्ग (विष्णु) का एक मन्दिर बनवाया था। वहीं बैठकर वह भजन पूजन करता और वाणिज्यव्यवसाय द्वारा जीविका चलाता था। उसीके वंशमें आठवें पुरुष सन्त तुकाराम हुए। तुकारामका जन्म सन् १६०८ में हुआ। इनके आठों पूर्वज परम भगवद्भक्त हुए। वे आजन्म प्रतिवर्ष आषाढ़ी और कार्तिकी एकादशीको पंढ़रपुरमें पंढरिनाथके दर्शनोंको जाया करते थे।

तुकारामके पिताका नाम बोल्होबा, माताका कनकाई, आग्रजका सावजी और अनुजका कान्होबा था। सावजी जन्मतः वैराग्यवान् था। इस कारण पिताके आग्रह करनेपर भी युवावस्थामें उसने गृहस्थीका भार अपने सिर नहीं लिया। तब बोल्होबाने वह भार तुकारामपर १३ वर्षोंकी अवस्थामें ही छोड़ा। तुकाराम बुद्धिमान् थे। उन्होंने थोड़े ही दिनोंमें चतुरतासे व्यापार कर बहुत धन संग्रह किया, जिससे पिता माताको बहुत प्रसन्नता हुई।

यथा समय सावजी और तुकारामका विवाह हो गया था, परन्तु तुकारामकी पत्नी श्वासरोगसे निरन्तर पीड़ित रहा करती थी, इस कारण उन्हें दूसरा विवाह करना पड़ा। उनकी पहिली स्त्रीका नाम रखमाई और दूसरीका जिजाई था।

चार वर्षों तक तुकाराम धनार्जन करते रहे। जब वे १७ वर्षोंके हुए, तबसे उनपर एकके बाद एक विपत्तियाँ घहराने लगीं। प्रथम उनके माता-पिताका देहान्त हुआ, फिर उनकी बड़ी भावज, जो गृहस्थीका कार्य देखा करती थी, स्वर्ग चल बसी। उसके मरते ही सावजी भी तीर्थयात्रा करने चले गये। तत्पश्चात् सन्तु या शिवाजी नामक उनका एक सुयोग्य पुत्र था, उसका भी अन्त हो गया। गृहस्थीमें अनेक कुटुम्बी होनेके कारण उनके पालनका भार अकेले तुकारामपर पड़ा। इधर अकालने क्रूररूप धारण किया। तुकारामकी दुकानका दिवाला हो गया। गाय भैंसें और बहुतसे कुटुम्बी विपत्तिमें पड़कर मर गये। उनकी पहिली स्त्री रखमाई तो अन्नके बिना छटपटाकर मरी। इन विपत्तियोंसे व्याकुल हो, तुकाराम घर द्वार छोड़कर, देहूसे दो कोसकी दूरीपर भावनाथ नामक पर्वत है, वहाँ जाकर एकान्तवास करने लगे। पुनः व्यापार करनेका, स्त्रीके विशेष अनुरोधसे, कई बार उन्होंने उद्योग किया, परन्तु प्रत्येक बार घाटा ही उठाना पड़ा। गृहस्थी चलानेके विचारसे उन्होंने कोई नौकरी कर लेना स्थिर किया। एक किसानने उन्हें खेत रखानेपर नियुक्त किया। दोनोंमें यह ठहराव हुआ था कि, जो धान्य उत्पन्न होगा, वह आधा आधा बाँट लेंगे। तुकाराम खेतमें मचानपर बैठकर अहर्निश हरिभजन करने लगे। खेतमें पशु पक्षी आकर धान्य खाजाते, पर तुकाराम उन्हें हाँकते-भगाते नहीं थे। वे समझते थे कि, किसी जीवका आहार हरण करनेका मनुष्यको अधिकार नहीं है। फसलके दिन पूरे होते ही कृषक

आकर क्या देखता है कि, सब धान्य पशु-पक्षी खा गये हैं। मारे क्रोधके वह तुकारामको गालियाँ देने लगा। उसने तुकारामपर पंचोंमें दो खण्डी (एक खण्डी २० मनकी होती है, धान्यकी हानिका दावा किया। प्रतिवर्ष उस खेतमें इतना ही धान्य होता था। पंचोंने निर्णय किया कि, तुकाराम ४० मन धान्य किसानको दे दे। परन्तु तुकारामके पास एकबार भोजन करने भरका अन्न नहीं, ४० मन अन्न वे कहाँसे देते? उन्होंने कृषकको ऋणपत्र लिख दिया।

इधर कान्होबाने सुना कि, तुकारामने ऋणपत्र लिख दिया है, तो उसे भय हुआ कि, मेरी सम्पत्ति लोग इस ऋणमें ले लेंगे। वह तुरन्त तुकारामके पास आकर कहने लगा,—"मैं आपसे विभक्त होना चाहता हूं। ये सब लेनदेनके कागज़ात हैं। इनमेंसे आधे मुझे दे दीजिये।" तुकारामने उसके हिस्सेके कागज़ात उसे देकर अपने हिस्सेके कागज़ात इन्द्रायणी नदीमें फाड़कर फेंक दिये। इस कार्यसे लोग तुकारामको अभिष्ठ समझने लगे।

ऋणपत्र लेकर कृषकने खेतमें आकर देखा कि, फसल प्रति-वर्षसे दूनी चौगुनी हुई है। उसने पुनः पञ्चोंमें जाकर कहा। पञ्चोंने दोखण्डी धान्य किसानको देकर १५ खण्डी तुकारामको दिलाया। सब मिलाकर १७ खण्डी धान्य हुआ था। यह धान्य भगवान्‌ने दिया है, जानकर तुकारामने वह घर न ले जाकर पञ्चोंको सौंप दिया और कहा, इसकी विक्री कर मेरे पूर्वजोंके विट्ठल मन्दिरका आप जीर्णोद्धार करा दें। पञ्चोंने उत्साहसे यह कार्य्य किया। अब तुकाराम उसी विट्ठल मन्दिरमें भजन पूजन करते और साधु-सन्तोंके सहवासमें समय बिताते थे। स्त्री जो कुछ कार्य कहती, सो कर देते और पुनः भगवद्भजनमें लग जाते थे। जिजाई परम पतिव्रता होनेपर भी अत्यन्त मुखरा थी। कुछ तो

उसका वैसा स्वभाव ही था, परन्तु अधिक गृहस्थीके जञ्जाल और प्रतिकूल परिस्थितिके चक्रमें पड़कर वह किटकिटा गई थी। फिर भी पतिको भोजन कराये बिना वह अन्न ग्रहण नहीं करती थी। कभी कभी तो भोजनकी सामग्री लेकर उसे पर्वतों और वनोंमें तुकारामको खोजते हुए भटकना पड़ता था। इससे दो दो दिनोंके उपोषण हो जाया करते थे। एक दिन उसने कुछ गन्ने तुकारामको देकर कहा,—"इन्हें अमुक दरसे बेच आओ।" तुकाराम बाजारमें गये। जिसने गन्ना माँगा, उसीको बिना मूल्य वे दे देते थे। सन्ध्या समय एक गन्ना बच गया, सो लेकर वे घर लौट आये। पड़ोसियोंसे सारा वृत्तान्त जानकर जिजाईके क्रोधकी सीमा न रही। तुकारामके घर आते ही उसने वह बचा हुआ गन्ना उनकी पीठपर दे मारा। गन्नेके दो टुकड़े हो गये। तुकाराम शान्तिसे बोले,—"प्रिये! अच्छा हुआ, गन्ना दो टूक हो गया। हम दोनों इसे अब बाँट लेंगे; परन्तु तुम्हारे हाथमें चोट तो नहीं लगी?"

इनके भजनभाव और अकर्मण्यतासे जिजाई बड़ी ही असन्तुष्ट रहा करती थी। प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गके परस्पर विरोधी इन दोनों पथिकोंका झगड़ा बड़ा ही मनोरंजक होता था। जब जिजाई गृहस्थीकी चिंता करती, तब उसे तुकाराम ज्ञानोपदेश करते थे। इससे अधिक चिढ़कर वह उन्हें बहुत ही कटूक्तियाँ सुनाने लगती और तुकाराम हँसा करते थे। एक दिन तो विपत्तिसे त्रस्त हो, वह अपने मुमूर्षु पुत्रको विट्ठल मूर्तिपर पटक कर मारना चाहती थी, क्योंकि उसका विश्वास था, हमारी विपत्तियों और दुर्दशाओंके कारण ये ही विट्ठलनाथ हैं। परन्तु तुकारामके सद्भावसे बालकका स्वास्थ्य सुधर चला, इससे उसकी पुत्रहत्या बच गई। उन्हें तीन पुत्र और तीन कन्याएँ थीं। कन्याओंका

विवाह उन्होंने कर दिया था और जिजाईकी सुशिक्षासे 'महादेव' 'विठोबा' एवं 'नारायण' ये तीनों पुत्र शिक्षित होकर गृहस्थी सम्हालने लगे थे। इनमें नारायण परम भगवद्भक्त हुआ। इसीने तुकारामकी परम्परा आगे चलाई।

महाराष्ट्र देशमें हरिकीर्तनकी प्रथा प्राचीन कालसे है। अनेक हरि-कीर्तकोंके साथ तुकाराम भजन करते करते तल्लीन हो जाया करते थे। कीर्तनमें प्राचीन भक्तोंके काव्य गाये जाते हैं। सुनते सुनते तुकारामको नामदेव, कबीर, एकनाथ, ज्ञानेश्वर आदि महात्माओंके सहस्रों कवन कण्ठस्थ हो गये थे। एक दिन स्वप्नमें बाबाजी चैतन्यने उन्हें 'राम कृष्ण हरि' इस मन्त्रका उपदेश कर कविता बनानेकी अनुज्ञा दी। तुकाराम कविता बनाने लगे और कीर्तन भी करने लगे। ज्ञानाभिरुचि उत्पन्न होनेके कारण उन्होंने रामायण, महाभारत, विविध पुराण और स्मृतिग्रन्थोंका अध्ययन किया। कविताका उन्हें इतना अधिक अभ्यास हो गया कि, दिन रात अखण्ड उनके मुखसे कविता-सुधाका स्रोत बहने लगा। वे कविताएँ भक्तगण लिख लिया करते थे। सब कविताएँ प्रायः एक ही छन्दमें उन्होंने बनाईं। उस छन्दको अभङ्ग कहते हैं। अन्य छन्दोंमें भी उनकी कविताएँ हैं, पर बहुत थोड़ी। कहते हैं कि, उन्होंने सब मिलाकर पांच करोड़ सत्तर लाख चौतीस हज़ार अभङ्ग बनाये थे, पर रामेश्वर भट्ट नामक एक राजमान्य विद्वान् ब्राह्मणके कहनेसे उन्होंने अपने अभङ्गोंकी पोथी इन्द्रायणी नदीमें डुबा दी। तुकाराम शूद्र होकर हरिकीर्तन और धर्मोपदेश करते हैं; इससे महाराष्ट्र प्रान्तकी ब्राह्मणमण्डली उनकी घोर विरोधी बन गयी थी। उस मण्डलीका मुखिया रामेश्वर था। तुकाराम ब्राह्मणभक्त थे। ब्राह्मणको प्रसन्न रखनेके लिये उन्होंने अपने ग्रंथ जलमें बहा दिये। पीछेसे ब्राह्मणोंको पश्चात्ताप हुआ और जलमें ग्रंथों-की खोज की गई। ४६०० अभङ्ग मिले, वे इस समय उपलब्ध हैं।

स्त्री-पुत्रादिकी चिन्ता न कर अखण्ड हरिकीर्तनमें तुकाराम रमे रहते थे। एकबार छत्रपति शिवाजी महाराजने विपुल धन ले, उनके पास आकर उपदेश पानेकी इच्छा प्रकट की; पर धन लौटाकर तुकारामने उनसे कहा,—"मैं शूद्र हूं, मुझे उपदेश देनेका अधिकार नहीं; आप समर्थ रामदासके पास जायँ, वे आपको कृतार्थ करेंगे।" इसी तरह कई वेश्याएँ उनकी परीक्षा लेने आईं, पर उनका चित्त विचलित नहीं हुआ। 'मां!' कहकर उन्हें तुकारामने प्रणाम किया। स्थितप्रज्ञ अवस्थामें पहुंचनेके कारण कोई अच्छा बुरा कहेगा, इसकी उन्हें परवाह नहीं थी। दारेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणासे वे दूर थे और दया, क्षमा, शान्ति, वैराग्य, निस्पृहता, निरिच्छता, समचित्तता, एकनिष्ठता, निस्सीम भगवत्प्रेम आदि गुणोंकी मूर्ति थे।

सन्त तुकाराम ४२ वर्ष इस लोकमें रहे। उनके जीवनका पूर्वार्द्ध अनेक प्रापञ्चिक झंझटोंमें बीता और शेष उत्तरार्ध ज्ञान-प्राप्ति, भक्तिमार्ग प्रचार और ग्रन्थरचनामें। सन् १६५० में फाल्गुन वद्य २ को वे अदृश्य हुए। जनश्रुति है कि, वे कीर्तन करते हुए सदेह स्वर्ग गये। अदृश्य होनेके तीन दिन पश्चात् अर्थात् पञ्चमीको उनकी झांझ और गोदड़ी उनके आसनपर मिली। इसी तिथिको महाराष्ट्रमें उनका श्राद्ध दिन मनाया जाता है। तुकाराम विशुद्ध भक्तिके बलपर स्वयं कृतार्थ हुए और अगणित लोगोंको उन्होंने कृतार्थ किया। 'नर ऐसी करनी करे, तो नरका नारायण होय' यह सन्तोक्ति तुकारामने सच्ची कर दिखाई। पूर्व कर्मानुसार श्रेष्ठ या हीन, किसी कुलमें मनुष्यका जन्म क्यों न हुआ हो, वह भक्तिमार्गका पथिक हो सकता है और परमात्माका साक्षात्कार कर सकता है। यही शिक्षा सन्त तुकारामके चरित्रसे मिलती है। गीतामें भी कहा है,—"स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्।"

—◇—

श्रीसमर्थ रामदास।

—:*:—

कृते तु मारुताख्यश्च त्रेतायां पवनात्मजः।
द्वापरे भीमसंज्ञश्च रामदासः कलौयुगे॥

भविष्यपुराण।

हनूमानजीके चरित्रमें लिखा जा चुका है कि, वे चिर-जीवी हैं। वे प्रकट रूपसे किसीको देख नहीं पड़ते, कभी कभी भक्तोंको दर्शन दे देते हैं। परन्तु प्रत्येक युगमें जब सज्जन सङ्कटमें पड़ जाते हैं, तब वे अवतार धारण कर लोकोद्धारका कार्य करते हैं। सत्ययुगमें मारुत, त्रेतामें पवनसुत, द्वापरमें भीम और कलियुगमें रामदासके नामसे प्रसिद्ध होते हैं। इस कलियुगमें ईसाकी सत्रहवीं सदीके प्रारम्भमें श्रीहनूमान रामदासके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। श्रीरामदास परम भगवद्भक्त, साधु, कवि और राजनीतिज्ञ थे। उनका चरित और उनकी लीलाएं अनुपम थीं। यवन-पद-दलित महाराष्ट्र भूमिमें, अपनी अप्रतिम निस्पृहता और पारमार्थिक शिक्षासे स्वधर्म और स्वराज्यकी स्थापनामें सहायता करके उन्होंने 'समर्थ' पदवी प्राप्त की थी। क्यों न हो! विना महाबली हनूमान्के और समर्थ कौन होगा? समर्थ राम-दाससे बढ़कर वर्तमान समयमें युवकोंके लिये दूसरा आदर्श नहीं हो सकता।

दक्षिण देशमें गोदावरीके तटपर बीड़ प्रान्तमें कृष्णाजी पन्त ठोसर नामक एक रामभक्त ब्राह्मणने सन् ६६२ में कुछ गाँव बसाये। उनके वंशजोंने उन गाँवोंकी बहुत उन्नति की। कृष्णाजीके पुत्र दशरथपन्तने उन गाँवोंमेंसे बड़गाँव नामक एक गाँवका नाम

बदलकर उसका नाम 'जाँब' रक्खा। इसका कारण यह कहा जाता है कि, बड़गाँवमें बड़का एक भी पेड़ नहीं था और अमरूदके पेड़ बहुत थे। मराठीमें अमरूदको 'जाँब' कहते हैं। इस कारण उस गाँवका नाम भी जाँब रखना उचित समझा गया। जाँबमें ही कृष्णाजीके वंशज सकुटुम्ब रहते थे। वेद शास्त्रोंका अध्ययन, अध्यापन, रामभक्तिका प्रचार और विपुल जमींदारीकी आमदनीका उपभोग करना ही इनके वंशजोंका कार्य्य था। दशरथपन्तके २० वें वंशज सूर्याजीपन्त हुए। इन्हें सन् १६०५ में प्रथम पुत्र हुआ, जिसका नाम गंगाधर रक्खा गया। दूसरा पुत्र सन् १६०८ में चैत्र सुदी ६ को ठीक मध्याह्नके समय हुआ, उसका नाम नारायण रक्खा। यही नारायण आगे चलकर श्रीसमर्थ रामदास स्वामीके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

समर्थकी माताका नाम राणूबाई था। वे कठोर सूर्योपासिका थीं। सूर्याजीने तो सूर्य्यको प्रसन्न कर दो पुत्रोंका वरदान पाया था। ठीक ही है, विना उपासनाके सुसन्तान हो भी तो नहीं सकती। बाल समर्थको लेकर राणूबाई उस समयके प्रसिद्ध साधु एकनाथ महाराजके दर्शनको एक बार गई थीं। उसी समय महात्माजीने कहा था,—"पुत्रि! तेरी सूर्य्यतपस्या सफल हुई है। यह तेरा बालक सूर्य्यके समान ही तेजस्वी होगा और शिवके अंशसे एक प्रसिद्ध छत्रपति राजा इस देशमें उत्पन्न होने वाला है, उसके द्वारा भूभारहरण तथा जनोद्धारका कार्य्य करेगा। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, यह सन्तोक्ति अक्षरशः सत्य हुई।

सूर्य्याजीके प्रथम पुत्र गंगाधर, इन्हें 'श्रेष्ठ' और 'रामी रामदास' भी कहते थे,—अच्छे विद्वान्, भक्त और ग्रन्थकार थे। इनके 'भक्ति-रहस्य' 'सुगम उपाय' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये गृहस्थीमें रहकर भक्ति-मार्गका प्रचार करते थे। इनकी समर्थपर

अत्यन्त प्रीति थी। ये समर्थके पढ़ने लिखनेपर विशेष दृष्टि रखते थे। परन्तु समर्थ छुटपनसे ही हँसमुख, सुदृढ़, तेजस्वी, खिलाड़ी और चपल होनेके कारण पढ़ने लिखनेकी अपेक्षा खेल कूदमें ही लगे रहते थे। इनकी कपिचेष्टाओंको देख, लोग इन्हें बन्दर, हनूमान्के अवतार कहा करते थे। बुद्धिमान् भी ऐसे थे कि, भैयाजूकी पाठशालामें बैठाने पर ५-६ महीनोंमें ही भैयाजूकी सब विद्या इन्होंने सीख ली और पुनः नदीमें तैरने, पेड़ों-छप्परोंपर चढ़ने, साथियोंको हँसाने खिलाने तथा मारने पीटने आदिके कामोंमें लग गये। पाँचवें वर्षमें धूमधामके साथ समर्थका उपनयन किया गया। एक विद्वान् ब्राह्मणसे वे ब्रह्मकर्म और शास्त्रोंका अध्ययन करने लगे। घरमें विपुल सम्पत्ति होनेके कारण इनके यहाँ अर्थचिन्ता नहीं थी; परन्तु दुर्भाग्यवश थोड़े ही दिनोंमें सूर्याजीका देहान्त हो गया। इससे समर्थ बड़े ही उदासीन हुए। लिखना पढ़ना छोड़कर अब उन्होंने अल्प वयसमें ही भगवदाराधन करना ठान लिया। अब वे ऐसे शान्त स्वभावके हो गये, मानों उपद्रव करना जानते ही नहीं थे। गंगाधर भक्तोंको कुल-परम्पराके अनुसार राम-मन्त्रोपदेश दिया करते थे। समर्थने भी उनसे मन्त्र माँगा, पर गंगाधरने कहा,—"अभी तुम बच्चे हो, उपासना तुमसे नहीं सधेगी, कुछ बड़े होनेपर मन्त्रोपदेश ग्रहण करना।" यह उत्तर समर्थको नहीं जँचा। तुरन्त वे गोदावरीके तटपर हनूमान्जीके मन्दिरमें निराहार हो, बैठकर हनूमान्की स्तुति करने लगे। बालकोंपर भगवान् शीघ्र प्रसन्न होते हैं। ध्रुव प्रह्लादके चरित्रोंसे यह बात स्पष्ट हुई है। तदनुसार हनूमान् समर्थपर प्रसन्न हुए। उन्होंने इन्हें दर्शन देकर श्रीरामचन्द्रजी-का भी दर्शन कराया और 'श्रीराम जय राम जय जय राम' इस त्रयोदशाक्षरी मन्त्रका उपदेश देकर आज्ञा दी कि,—"सारी

पृथ्वीमें यवन छाये हुए हैं। अनीतिका राज्य है। दुष्टलोग अधिकार मदमें मतवाले होकर साधुओंको सता रहे हैं। धर्मका ह्रास हो रहा है। इस लिये आप वैराग्य वृत्तिसे कृष्णातट पर रहकर उपासना और ज्ञानकी वृद्धिकर लोकोद्धार करें।" इस उपदेश और आज्ञाका वृत्तान्त सुन, गंगाधर और राणूबाईको बड़ी ही प्रसन्नता हुई। समर्थ प्रचण्ड पण्डित नहीं थे। उन्हें जो ज्ञान प्राप्त हुआ, सो उपासना और अनुभवसे। फिर भी गीता, उपनिषद्, भागवत आदि कठिन ग्रन्थोंको वे भली भांति समझ सकते थे। पुराणादि ग्रन्थोंका अवलोकन सूक्ष्मदृष्टिसे उन्होंने किया था और उनका बहुश्रुत अगाध था।

प्रेममयी माताको बालकका-विशेषतया पितृहीन बालकका-विवाह अतिशीघ्र कर देनेकी अभिलाषा हुआ करती है। राणूबाई समर्थ-का १२ वें वर्षमें ही विवाह कर देनेका आयोजन करने लगीं। समर्थ विवाह करनेको प्रस्तुत नहीं थे। श्रेष्ठ भी जानते थे कि, ये विवाह नहीं करेंगे। माताने बहुत समझाया, पर ये किसी तरह नहीं माने। एक दिन बड़े प्यारसे राणूबाईने उन्हें एकान्तमें बुला-कर कहा,—"नारायण! क्या माताकी आज्ञा पालन करना पुत्रका धर्म नहीं है?" समर्थ बोले,—"न मातुः परं दैवतं" यह तो शास्त्र-वचन है। माताकी आज्ञा केवल कुपूत ही उल्लङ्घन कर सकता है।" माताने कहा,—"यदि तुम्हारा यही मत है, तो मेरे सामने तुम्हारा 'सावधान' हो जाना चाहिये।" समर्थ 'तथास्तु' कहकर चुप हो गये। महाराष्ट्रीय समाजमें वधू-वरको बैठाकर अन्तर्पट ब्राह्मण धरते और उच्च स्वरसे 'शुभमङ्गल सावधान' कहते हैं। इस 'सावधान' शब्दसे विवाहकी घड़ी सूचित होती है। राणूबाईने विवाहकी तैयारी की। यथा समय ब्राह्मणोंने 'सावधान' कहा। समर्थ बोले,—"माताकी आज्ञाका मैं पालन कर चुका। बस,

सावधान हो गया। अब मैं जाता हूं। अभी सप्तपदी आदि विवाह-विधि नहीं हुई है। यह कन्या किसी अच्छे पात्रको ब्याह दो।" यह कहकर विवाह मण्डपसे समर्थ भाग गये। समर्थके भागनेसे माता और बन्धुको अत्यन्त दुःख हुआ। उनकी बहुत खोज की, पर कहीं पता नहीं लगा। दो चार दिन आँब गाँवमें ही वे कहीं छिपे रहे। फिर वहांसे सैकड़ों कोस दूर नासिकमें यात्राके अनेक कष्टोंको सहते हुए पहुँचे और गोदावरीका स्नान तथा श्रीराम-चन्द्रका दर्शन कर, वहांसे तीन मीलपर 'टाकली' नामक गोदावरीके तटपर स्थित ग्राममें एकान्तमें एक वृक्षके तले कुटी बनाकर उसीमें रह कर कठोर तपस्या करने लगे। मध्यान्हमें भिक्षा-भोजनादिके लिये दो घण्टे और रात्रिमें निद्राके लिये चार घण्टे छोड़, शेष समय वे तपस्यामें लगाते थे। न वे किसीसे बोलते, न किसीके घर जाते थे। जलमें प्रातःकालसे आठ घण्टे खड़े होकर जप करनेसे कमरके नीचेका उनका अंग गल गया था। वहांका मांस मछलियां नोचा करतीं, पर उन्हें उसकी सुध नहीं रहती थी। जप करने-पर वे भजनमें वैसे ही रँग जाते थे। यह क्रम बारह वर्षोंतक अखण्ड बना रहा। उनका सिद्धान्त था कि, तपके बिना मनोजय नहीं हो सकता और बिना मनोजय हुए मनुष्यका कोई कार्य सफल नहीं होता। तपमें उन्हें अनेक दृष्टान्त हुए, विघ्न-बाधाएँ हुई, पर वे विचलित नहीं हुए। जब उन्हें विश्वास हो गया कि, अब मैं मनोजय कर चुका हूं, तब तप समाप्त कर, जिस कुटीमें वे रहते थे, वहां हनूमान्‌जीकी स्थापना कर और उनकी सेवाके लिये अपने शिष्य गोस्वामी उद्धवजीको रख कर, वे तीर्थ-यात्रा करनेके लिये निकल पड़े। समर्थने सारे भारतवर्षका प्रवास उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिम तक पैदल ही किया, उनके पास एक कानी कौड़ी भी नहीं थी। भिक्षाका उन्हें बड़ा महत्त्व था। वे

भिक्षासे उदर-निर्वाह करते थे। वे कहते भी थे कि, भिक्षासे परोपकारकी बुद्धि और निर्भयता उत्पन्न होकर ईश्वरकी प्राप्ति होती है। राजासे लेकर रंकतककी परीक्षा भिक्षाके द्वारा अनायास की जा सकती है। परन्तु खेद है कि, उनके मतानुसार आजतक उनके अतिरिक्त एक भी भिखारी जगत्में उत्पन्न नहीं हुआ।

काशी, अयोध्या, मथुरा, वृन्दाबन, गोकुल, श्रीनाथजी, द्वारका, प्रभास, श्रीनगर (काश्मीर) बदरी-केदार, श्वेतमारुति (इस स्थानमें श्रीशङ्कराचार्य्य महाराजके अतिरिक्त कोई नहीं पहुंच सका था), जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, लंका, श्रीरंग, जनार्दन, गोकर्ण, शेषाद्रि, वेङ्कटेश, मल्लिकार्जुन, नृसिंह, बालाजी, पम्पासर, देवगिरि, करवीर आदि तीर्थस्थानोंसे होते हुए बारह वर्षोंके पश्चात् वे नासिकमें लौट आये। और तीर्थयात्राका पुण्यफल श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें भक्तिभावसे अर्पण कर दिया। इस यात्रामें देशकी परिस्थिति उन्होंने भली भांति जान ली। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक मर्म ज्ञात कर लिया और लोकोद्धारके तीन उपाय खोज निकाले। १—नीतिस्थापना, २—धर्मस्थापना और ३—राज्यस्थापना। इन्हीं उपायोंसे लोकोद्धार करनेका उन्होंने निश्चय कर लिया। तीर्थयात्रासे लौट कर समर्थ अपनी माता और भ्रातासे मिले। इनके वियोगदुःखसे वृद्धा माता राणूबाईकी रोते रोते आंखें चल बसी थीं। इन्होंने घर आकर 'जयजय रघुवीर समर्थ' कह कर भिक्षा मांगी। अन्धी माताने पुत्रका शब्द पहिचान लिया। 'नारायण आया' कह कर उसने इन्हें छातीसे लगाया। गङ्गाधरसे भी समर्थ मिले और उनके तथा माताके चरणोंपर गिर पड़े। तीनोंके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धाराएँ बह निकलीं। कुछ समयतक तीनों अवाक् हो हो रहे। माताने उनके सिर और मुखपर हाथ फेरा, तो दाढ़ी और जटाएँ हाथ लगीं। माँ

बोलीं,—"नारायण ! तू कितना बड़ा हो गया ? यदि मेरी आँखें होतीं, तो मैं तेरा मुख देख पाती।" समर्थका करुणासे कण्ठ रुँध गया। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण कर, माताके नेत्रोंपर हाथ फेरा। मा पहिलेकी तरह सब कुछ देखने लगी। माने आश्चर्यचकित हो पूछा,—"नारायण ! तूने यह भूतविद्या किससे सीखी ?" समर्थने उत्तर दिया,—"मा ! जो भूत कौशल्याके स्तनोंमें लगा था, जो अयोध्याके महलोंमें विराजमान था, जिसके चरणस्पर्शसे शिला भी स्त्री हुई थी, जिसने अनेक चमत्कार दिखा-कर भक्तोंका उद्धार किया, वही सब महाभूतोंका प्राणभूत मुझमें सञ्चार कर रहा है। उसीकी कृपाका यह फल है।" समर्थ कुछ दिन घर रह कर भाईके साथ अध्यात्मचर्चा और कपिल-मुनिकी तरह माताको आत्मबोध करते थे। अनन्तर वे लोकोद्धारके लिये चल पड़े। इस समय उनकी अवस्था ३६ वर्षोंकी थी।

प्रथम उन्होंने गोदावरी और कृष्णा इन दो सहस्रों कोस लम्बी महानदियोंकी प्रदक्षिणाएँ की। महाराष्ट्र, कर्नाटक, निजामका राज्य और आन्ध्र देशसे होकर ये नदियाँ दक्षिण महासागरमें मिली हैं। समर्थने इन प्रान्तोंमें भ्रमण कर अनेक शास्त्री, वैदिक, राज-कर्मचारी आदि अधिकारी धनी और विद्वानोंको दीक्षा दी और स्थान स्थानपर सैकड़ों मठ–मन्दिर स्थापन किये। देखते देखते उनके सम्प्रदायमें सहस्रों नहीं, लक्षावधि लोग आ गये और प्रत्येक मठ-मन्दिरमें उनके शिष्य समर्थ-सम्प्रदायकी लोगोंको शिक्षा देने लगे। स्वधर्मकी जागृति होते ही लोगोंमें स्वाभिमानका उदय होकर हिन्दुजातिका अभेद्य सङ्गठन होने लगा। अच्छा अवसर देख, समर्थने प्रातःस्मरणीय छत्रपति शिवाजी और उनके भाई तैलङ्ग देशाधिपति व्यङ्कोजीको अपना शिष्य बनाया। क्रमशः समर्थने देशभरमें धर्म और स्वतन्त्रताके विषयमें विचारक्रान्ति-

उत्पन्न कर दी। जिसका फल यह हुआ कि, थोड़े ही दिनोंमें महापराक्रमी मुसलमानी सत्ताकी जड़ उखड़ी और भारतमें 'हिन्दुपद पातशाही' स्थापित हो गयी। स्वराज्य स्थापनाका कार्य्य शिवाजीके द्वारा करवाया था, इस कारण उन्हींको समर्थने महाराष्ट्रका सम्राट् छत्रपति बनाया और तभीसे लोग इन्हें 'समर्थ' कहने लगे। राजगुरु होनेपर भी समर्थ ऐसे त्यागी थे कि, एक दिन भिक्षामें शिवाजीने उन्हें समस्त राज्य अर्पण कर दिया था। परन्तु उन्होंने उसे लौटा कर कहा, मेरे प्रतिनिधि होकर तुम राज्य करो और अपनी पताका गेरुए रंगकी रक्खो। तभीसे महाराष्ट्रीय साम्राज्यकी पताका गेरुई है। टाकली, सज्जनगढ़ और चाँफल ये तीन स्थान समर्थको अतिप्रिय थे। घूम फिरकर वे इन्हीं स्थानोंमेंसे कहीं आ जाते थे। यद्यपि उन्होंने अनेक मठ-मन्दिर स्थापन किये थे, तथापि उनका प्रबन्ध स्वयं न कर शिष्यों द्वारा कराया करते और आप गिरि-कन्दराओंमें रह कर लोगोंका चमत्कार देखा करते थे। समर्थने जितने मठ-मन्दिर स्थापन किये, उनके पूजन-प्रबन्धके लिये शिवाजीने अनेक गाँव अर्पण किये थे और समर्थके बन्धुका सन् १६७७ में देहान्त होनेके पश्चात् उनके दो पुत्रोंको जागीरें भेंट की थीं। सन् १६५५ में समर्थकी माताका देहान्त हुआ। उस समय १५ दिन पहिले ही वे माताके निकट पहुंच गये थे।

महाराष्ट्र आदि दक्षिण भारतके कई प्रान्तोंमें स्वराज्यकी स्थापना हुई देख, अब वे उत्तर भारतकी ओर बढ़े। बरार, प्रयाग, काशी, काश्मीर, बद्रीनाथ, सूरत, श्रीरङ्गम, रामकोट, गोवा, अन्तर्वेदी, अयोध्या, मथुरा, मायापुरी, जगन्नाथपुरी, काञ्ची, द्वारका, ॐकारेश्वर, रामेश्वर आदि देशोंकी चारों दिशाओंके प्रधान प्रधान पुण्यस्थानोंमें समर्थने मठ स्थापन किये। प्रत्येक मठमें उनका एक

एक शिष्य महन्त रहता था। समर्थके ऐसे कितने मठ, महन्त और स्त्री-पुरुष शिष्य हुए, इसका पता नहीं लगता। इतिहास संशोधकोंको अबतक ८६ मठ और महन्तोंके स्थान और नाम मिले हैं। लोकोद्धार और स्वराज्यस्थापनाके लिये समर्थको अनेक गुप्त स्थान निर्माण कर, वहाँ अपने शिष्योंको गुप्तरीतिसे रखना पड़ा था। काशीके हनूमानघाटपर हनूमानजीकी स्थापना रामदासने ही की थी। समर्थका उत्तर भारतका कार्य्य भी सफल हुआ। इनके मठ-मन्दिरोंसे लाभ उठा कर मराठोंको अटकसे कटकतक अपनी गेरुआ पताका फहरानेमें बड़ी सुविधा हुई। समर्थकी राजनीतिक उन्नतिमें विशेषता यह थी कि, वे धर्मरक्षा करते हुए स्वराज्य-स्थापनाका कार्य्य करते थे। उन्हें धर्मरक्षाके लिये स्वराज्य चाहता था। धर्मभावशून्य स्वराज्यके वे पक्षपाती नहीं थे।

समर्थकी ग्रन्थरचना अगाध थी। उन्होंने अपने जीवनमें कितने ग्रन्थ बनाये, इसका पता नहीं लगा है। धुलियाकी 'सत्कार्योत्तेजक सभा' तथा अन्य विद्वानोंने और संस्थाओंने उनके समग्र ग्रन्थोंकी खोज करना आरम्भ किया है। अबतक उन लोगोंको लगभग २०।२२ ग्रन्थ मिले हैं, जिनमें एक लाखसे अधिक कविताएँ हैं। यों सभी ग्रन्थ उपयुक्त और नीति, धर्म, अध्यात्म और आचार-ज्ञानके लिये मार्गदर्शक हैं, किन्तु उनके रामायण, मनके श्लोक और दासबोध ये तीन ग्रंथ असाधारण प्रतिभासे युक्त हैं। जबतक इन ग्रन्थोंमेंसे एक भी ग्रन्थ संसारमें रहेगा, तब तक समर्थका नाम अटल रहेगा और इनका सङ्कल्पित लोकोद्धारका कार्य्य होता रहेगा। देहान्तके समय शिष्योंने कहा,—"महाराज! आप शरीर त्याग रहे हैं, अब हमें मार्गदर्शक कौन होगा?" समर्थने उत्तर दिया,—"मेरे ग्रन्थ ही तुम्हें मार्गदर्शक होंगे।"

वास्तवमें समर्थके ग्रंथ हरएक देश, काल और पात्रके लिये आदर्श-स्वरूप हैं।

सन् १६८२ के प्रारम्भसे ही समर्थका शरीर क्षीण हो चला था, इस कारण अन्नत्याग कर वे दूध पीकर रहने लगे थे। चाफलमें वे श्रीरामचन्द्रजीके उत्सवके लिये गये थे, वहीं उनका स्वास्थ्य अधिक बिगड़ा। एक दिन अकस्मात् वे कह उठे कि,—"रघुकुल तिलकका समय निकट आ गया है, इस लिये साङ्ग भजन करना चाहिये।" समर्थके शिष्योंमें कल्याण और उद्धव ये दो शिष्य बड़े महात्मा और त्रिकालज्ञ थे। उद्धव स्वामीने तुरन्त उत्तर दिया,—"अन्तिम दिन नवमीका स्मरण रख कर, शीघ्रतासे कार्यसिद्धि करनी चाहिये।" वह नवमी-अर्थात् फाल्गुन कृष्ण ६ संवत् १७३८ (फरवरी सन् १६८२) भी आ गई। भजन आरम्भ हुआ। समर्थने ११ वार 'हर हर' शब्दका उच्चारण किया। अन्तमें 'राम' शब्दके उच्चारण करते ही समर्थके मुखसे तेज निकल कर, समीप स्थापित हुई राममूर्तिके मुखमें प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार सौभाग्यवती भारतमाताका एकमात्र सुपुत्र, सिद्धरत्न, साधुराज, चातुर्य्यसागर, राजनीतिज्ञशिरोमणि, भक्ति-ज्ञान-वैराग्यका प्रत्यक्ष स्वरूप, निस्पृह योगी और महात्मा 'राम' में लीन हो गया। समर्थका उपदेश है कि,—"धर्म और देशके लिये मरना चाहिये और मरनेपर भी कीर्तिरूपसे जीवित रहना चाहिये।" यों रामदासका जीवनचरित आपाततः भारतीय युवकोंके लिये अनुकरणीय है; किन्तु उक्त उपदेशानुसार अपने जीवनको धर्म और देशके लिये कैसा उत्सर्ग किया जाता है, प्रधानतया इसीकी शिक्षा समर्थचरित्रसे मिलती है।

—०*०—

सूरदास ।

—०॥०—

काव्य प्रेमी भगवद्भक्तोंने सूरदासको 'सूर्य्य' की उपमा दी है। वास्तवमें सूरदासजीकी कविता, भाषा कविता-की सिरमौर है। दुःख है कि, ऐसे महाकविके विश्वासयोग्य सम्पूर्ण जीवनचरित्रका पता नहीं है।

प्रायः लोग यही समझते हैं कि, सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे। परन्तु स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदासने बहुत खोज कर पता लगाया है कि, ये पार्थज गोत्रके क्षत्रिय या भाट थे। प्रसिद्ध कवि चन्द्रके वंशज थे और इनका जन्म संवत् १५४० के लगभग आगरा वा गोपाचलमें हुआ था। कुछ चरित्रलेखकोंके मतानुसार न वे बिल्वमङ्गल पाण्डेयके पुत्र थे और न इनका नाम शूरध्वज ही था। जन्मसे ही ये अन्धे थे और इनका नाम सूरतचन्द्र रक्खा गया था।

सोलहवीं सदी हिन्दु मुसलमानोंकी मारकाटके लिये प्रसिद्ध है। उस समय आज जो राजा हैं, वह कल भिखारी और आज जो सिपाही हैं, वह कल राजा बन बैठता था। सूरतचन्द्र अपने सात भाइयोंमें सबसे छोटे थे। मुसलमानोंसे लड़कर इनके छहों भाई स्वर्ग चल बसे। इनके अन्ध होने और इनके पिता हरिश्चन्द्रके वृद्ध होनेसे दोनों लड़ाईमें नहीं सम्मिलित हो सके। आगरेमें लड़ाईकी दिन रात धूम होनेके कारण उस स्थानसे उकता कर, पुत्रशोकसे खिन्न हो, अन्धे सूरतचन्द्रको साथ लेकर हरिचन्द दिल्लीके निकट 'सीही' नामक एक क्षुद्र ग्राममें आ बसे। हरिचन्दकी अटूट सम्पत्ति यवनोंने लूट ली थी। इस कारण वे अत्यन्त दरिद्रा-वस्थामें थे। थोड़े ही दिनोंमें अनेक दुःखोंसे दुःखित हो,

हरिचन्द्का भी देहान्त हो गया। सूरतचन्द अनाथ हुए। उन्हें अब एकमात्र भगवान्का ही अवलम्ब रह गया। दिनरात वे भगवान्का नामस्मरण करते और जो कुछ जो ला देता, वही खाकर जीते थे।

एक दिन सूरतचन्द प्रातर्विधिके लिये घरसे बाहर निकले और दुर्भाग्यवश अन्ध होनेके कारण एक गहरे कुएँमें जा गिरे। सात दिनोंतक उनकी किसीने सुध न ली। लेता भी कौन? परन्तु परमात्मा कभी भक्तकी उपेक्षा नहीं करते। सूरदासजीने एक आत्म-चरित्रसम्बन्धी कवितामें लिखा है कि, सातवें दिन स्वयं भगवान्ने मुझे कुएँसे निकाल कर नेत्र दिये। अपने अद्भुत चतुर्भुजरूपका दर्शन कराया और आशीर्वाद दिया कि, तुम सुकवि होगे और तुम्हारा नाम सूर्यदास होगा। 'सूर्य' का ही अपभ्रष्टरूप 'सूर' है। ज्योतिके प्रकाशक सूर्य्यभगवान् हैं। सूर्य्यसे इन्हें दृष्टि दिलाई, इसीसे कदाचित् भगवान्ने इनका नाम सूर्य्यदास रक्खा होगा। आजन्म भगवान्के स्वरूपका वर्णन कर, सूरदासने 'सूरतचन्द' नामको भी सार्थक किया है। नेत्र प्राप्त होनेपर सूरदास 'सीही' छोड़, आगरा और मथुराके मध्यमें स्थित 'गऊ घाट' नामक स्थानमें रहने लगे। यमुनातट होनेसे गऊघाटपर लोगोंका आना जाना बना रहता था। सूरदास कविता बनाकर भगवद्गुणानुवाद गाते और लोग उनके पास बैठकर सुना करते थे। इससे उनका चरितार्थ भी चलता था और थोड़े ही दिनोंमें इनकी प्रसिद्धि भी बहुत हो गयी।

सूरदासका गान सुननेके लिये अनेक भगवद्भक्त पुरुषोंकी तरह आर्य्यकुलाङ्गनाएँ भी आया करती थीं। सूरदास इतने भगवद्-भक्त होनेपर भी एक दिन इनका गान सुननेके लिये आई हुई एक परम सुन्दरी कुलीन महिलापर अदृष्टवश ये अत्यन्त मोहित हो गये।

गीताकी यह उक्ति,—"बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।" अर्थात् इन्द्रियगण ऐसे प्रबल होते हैं कि, विवेकी पुरुषोंको भी फँसा लेते हैं, सत्य हुई। सूरदास उस स्त्रीके लिये बावले हो गये। उनकी यह दशा देख, सभी भगवद्भक्त उनका तिरस्कार करने लगे। जब उस साध्वीको यह पता लगा कि, सूरदास मुझपर रीझे हैं। उसे बहुत दुःख हुआ और वह उनके मनको परावृत्त करनेकी चेष्टा करने लगी। एक दिन वह बड़े सम्मानसे सूरदासको अपने घर ले आयी और वैराग्यका उपदेश देने लगी। सतीके बचन तेजस्वी होते ही हैं। उसके उपदेशोंका सूरदासपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि, तुरन्त उन्होंने सूईसे अपनी दोनों आँखें फोड़ लीं और उसे प्रणाम कर वे वहांसे चल दिये। सूरदासने सोचा, पापके कारण-स्वरूप ये पापी नेत्र ही हैं। इनका रहना नहीं अच्छा है। सूरदास पुनः अन्धे हुए, परन्तु इस घटनासे उनकी और साथही साथ उस सतीकी बड़ी कीर्ति हुई। आँखोंके रहते हुए सूरदासने अनेक शास्त्रग्रन्थोंका अवलोकन कर लिया था।

सूरदास पुनः भगवद्भजनमें रंग गये। संयोगवश उन्हीं दिनोंमें पुष्टिमार्गके प्रवर्तक वैष्णवाचार्य श्रीवल्लभाचार्य महाराजके पुत्र गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी महाराज गऊघाट पधारे थे। लोगोंने उनसे सूरदासजीकी भेंट करा दी। सूरदासने अपनी रसभरी कविताएँ आचार्यवरको सुनायीं, जिससे वे बहुत ही प्रसन्न हुए। गोस्वामीजीने सूरदासपर अनुग्रह किया और अष्ट छापमें उन्हें प्रधान स्थान दिया; अर्थात् अपने मुख्य आठ भक्तोंका मुखिया बनाया। सूरदासकी असाधारण कवित्वशक्तिको देख, गोस्वामीजीने श्रीमद्भागवतकी एक सूची बना कर उन्हें दी और उसके अनुसार पदावली बनानेको कहा। गुरुकी आज्ञा पाकर सूरदासने सवालाख पद बनाये। परन्तु इस समय वे सब नहीं मिलते, केवल दो ढ़ाई हज़ार उपलब्ध हैं,

जो 'सूरसागर' ग्रन्थमें छापे गये हैं। इस ग्रन्थमें प्रायः सब भागवतका सार आ गया है, किन्तु दशमस्कंधकी लीलाओंका वर्णन विस्तृतरूपसे किया गया है।

गोस्वामीजी सञ्चारार्थ निकले थे। अब उन्होंने अपने साथ सूरदासको भी ले लिया। मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थस्थानोंसे होते और अपनी मधुर रचनासे भक्तिमार्गका प्रचार करते हुए सूरदास गोस्वामीजीके साथ श्रीनाथजी पहुंचे। वहीं श्रीनाथजी तथा गुरुदेवकी सेवा करते हुए रहने लगे। सूरकी कविताकी प्रशंसा सुन, अकबर स्वयं वृन्दावनमें उनके पद सुनने आया था और भक्तिके पद सुन, अत्यन्त प्रसन्न हुआ था।

सम्बत् १६२० के लग भग किसी दिन शरीर अत्यन्त अस्वस्थ हुआ देख, सूरदास श्रीनाथ-गोवर्द्धनपर्वतसे नीचे उतर कर परसोली नामक स्थानमें आये और वहांसे श्रीनाथजीकी ध्वजाको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। सूरदासजी जो दण्डवत् गिरे, सो फिर नहीं उठ सके। गोस्वामीजीकी सूरदासपर बड़ी प्रीति थी। सूरदासजीका अस्वास्थ्य-समाचार सुनते ही गोस्वामीजी अनेक शिष्योंके साथ उनके पास आये, सूरदास उनकी बाट जोह रहे थे। गुरुके दर्शन होते ही वे उनके चरणोंपर गिर पड़े और आंखोंसे आंसू बहाते हुए पद गाने लगे। सूरके भक्तिरसपूर्ण पद पत्थरको भी पिघला देते थे। उनके अन्तिम समयका दृश्य तो हृदयपर विचित्र परिणाम करता था। क्षणमात्रमें सूरकी प्राणज्योति परमात्मामें विलीन हो गयी और सर्वत्र गम्भीरता छा गयी। गोस्वामीजी और उनके सच्छिष्योंने उनका उचित सत्कार किया और इस प्रकार हिन्दी-काव्योंका जनक अदृश्य हो गया। सच्चे भक्तपर परमात्मा कैसी कृपा करते हैं और सतीके वचनोंसे असाधु कैसे साधु हो जाते हैं, इसकी शिक्षा सूरदासके चरित्रसे मिलती है।

महाराणा हमीर।

पुराणोंमें जो यह लिखा है और पहिले हम लिख भी चुके हैं कि, भारतपर सूर्यवंश और चन्द्रवंशके क्षत्रिय ही राज्य करनेके अधिकारी हैं, सो राजपूतानेके इतिहासको देखनेसे सत्य प्रतीत होता है। चन्द्र-सूर्यवंशीय क्षत्रियोंके रक्तमें ही राज्य करनेकी जन्मजात अद्भुत शक्ति देख पड़ती है। अवधप्रान्तसे सूर्यवंशीय और हस्तिनापुर (दिल्ली) से चन्द्रवंशीय राजाओंके राज्य नष्ट होनेपर दोनों वंशोंके राजाओंने भारतके पश्चिम भागमें अपने अपने राज्य बसाये। उस भागको इस समय राजपूताना कहते हैं। पहिले इसका विस्तार दिल्लीसे गुजराततक था, पर अब उसकी मर्यादा संकुचित कर दी गयी है।

चन्द्रसूर्यवंशीय राजा श्रीकृष्ण या श्रीरामचन्द्रसे लेकर वर्तमान समयके राजपूतोंतककी वंश-परम्परा व्यवस्थितरूपसे कहीं लिखी नहीं मिलती, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि, आज जो सच्चे क्षत्रिय अपने देशमें हैं, वे उन्हीं वंशोंके हैं। ऐतिहासिक समयके सूर्यवंशके मूल पुरुष बाप्पा रावल माने जाते हैं। इन्होंने मौर्यवंशके राजाओंको हरा कर चित्तौरमें अपनी राजधानी बसायी थी। इनके वंशमें एकसे बढ़कर एक वीर, प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए। उन्हींमें महाराणा भीमसिंहकी गणना होती है। जगतप्रसिद्ध सुन्दरी पद्मिनीके साथ इन्हींका विवाह हुआ था।

ईसाकी आठवीं सदीमें मुसलमानोंका इस देशमें प्रवेश हुआ, तबसे गत शताब्दितक राजपूतोंको शान्ति नहीं मिली। वे निरन्तर शत्रुओंसे लड़ते और अपने देश तथा धर्मकी रक्षा करते रहते थे।

चौदहवीं शताब्दिके मध्यमें महाराणा भीमसिंह और उनके भ्रातुष्पुत्र लक्ष्मणसिंहके युद्धमें काम आनेपर विजेता अलाउद्दीनने सोनगढ़के मालदेवको चित्तौरगढ़का किलेदार बना दिया था। लक्ष्मणसिंह-के बारह पुत्र थे। उनमेंसे अजयसिंहके अतिरिक्त सब मारे गये। अजयसिंहके अजीमसिंह और सुजनसिंह नामक दो पुत्र थे। अजीम-सिंहका परलोकवास हो गया और सुजनसिंह दक्षिणमें भाग गये। उन्हींके वंशमें प्रातःस्मरणीय छत्रपति शिवाजी महाराजका जन्म हुआ। कैलवाडामें बसे हुए राज्यविहीन बनवासी अजयसिंहके अनुज जो लक्ष्मणसिंहके समयमें युद्धमें प्रथम काम आये थे, अरिसिंहका पुत्र हमीर ननिहालमें होनेके कारण बच गया था। उसे बुला कर प्रसिद्ध डांकू मुंजापर चढ़ाई करनेकी अजयसिंहने आज्ञा की। तदनुसार हमीरने बारह वर्षकी अवस्थामें प्रचण्ड वीर मुंजाका शिर काट कर अपने चाचा अजयसिंहके चरणोंमें अर्पण किया। यह देख, अजयसिंहने कैलवाडामें ही हमीरको मुंजाके रक्तसे तिलक कर और यह आशीर्वाद दे कर कि, तू ही चित्तौरका उद्धार करेगा, आनन्दसे प्राणविसर्जन किये। मालदेवकी कन्यासे विवाह कर, हमीरने युक्तिसे चित्तौरपर अधिकार कर लिया और मालदेवकी ओरसे लड़नेको आये हुए दिल्लीके बादशाह मुबारकको हराकर और कुछ दिन अपने कारागारमें रखकर, पीछेसे अजमेर, रणथम्भौर, नागौर, शुआ, शिवपुर आदि ग्राम, ५० लाख रुपये और १०० हाथी दण्डस्वरूप लेकर, यह कह कर छोड़ दिया कि, डरसे नहीं, किन्तु उदारतासे तुझे छोड़ देता हूं, जब जी चाहे, तू चित्तौरपर चढ़ाई कर, यह हमीर तुझे चित्तौरके द्वारपर खड़ा मिलेगा और इसकी तल-वार तेरे जैसे अन्यायियोंका दमन करनेके लिये निरन्तर तैयार रहेगी। यही हमीर चित्तौरका प्रथम उद्धारक माना जाता है।

राजपूतानेका भीष्म ।

हमीरके पश्चात् क्षेत्रसिंह और तत्पश्चात् महाराणा लाखा मेवाड़के सिंहासनपर बैठे। दोनों बड़े पराक्रमी हुए। इन्होंने अनेक नृपति तथा दिल्लीश्वर इब्राहिम लोदीको हरा-कर अनेक प्रान्त अपने राज्यमें मिला लिये थे और विपुल ऐश्वर्य तथा कीर्ति सम्पादन की थी। महाराणा लाखाके बड़े पुत्र चण्ड हुए। ये ही राजपूतानेके भीष्म कहे जाते हैं। इनका चरित्र बड़ा ही चित्ताकर्षक होनेसे उल्लेख योग्य समझा गया है।

एक दिन कुमार चण्डके साथ अपनी कन्याकी सगाई पक्की करनेके लिये जोधपुरनरेश राय रणमल राठौरने एक ब्राह्मणको नारियल देकर मेवाड़में भेजा। महाराणा लाखाकी राजसभामें जब वह ब्राह्मण आया, उस समय चण्ड वहां नहीं थे। रणमलका कुशल पूछकर महाराणाने ब्राह्मणसे हंसकर कहा,—"क्या इस सफेद डाढ़ीवालेसे सगाई करने—मेरी हंसी करने—आये हो?" सब लोग हंस पड़े, इतनेमें वहां चण्ड भी आ पहुंचे। उन्होंने पिताकी मीठी हंसीका वृत्तान्त सुन, इस सम्बन्ध-को स्वयं न करनेका निश्चय कर लिया। जिस कन्याको पिता, हंसीमें ही क्यों न हो,—अपनी स्त्री मान बैठे, वह मेरी माता हो चुकी; यह समझ कर चण्डने सगाईको अस्वीकार किया। सभा-सदों और स्वयं महाराणाने चण्डको बहुत समझाया, पर चण्डने एक न सुनी। तब सगाई लौटा देनेसे रणमलका अपमान होगा, यह सोच महाराणाने क्रुद्ध हो, चण्डसे कहा,—"ठीक है, मैं इस नारियलको ग्रहण करता हूं। पर स्मरण रखना कि, इस सम्बन्ध-से यदि कोई सन्तान हुई, तो तुम्हारा राज्याधिकार जाता रहेगा।"

चण्ड प्रसन्न होकर बीरभावसे खड़े होकर बोल उठे,-"पिताजी! श्रीभगवान् एकलिङ्ग और कुलगुरु भगवान् सूर्यनारायणको साक्षी रखकर और आपके चरण छूकर प्रतिज्ञा करता हूं कि, इस सम्बन्धसे हुए आपके कुमारको ही मैं इस पवित्र सिंहासनपर बैठाऊँगा, उसके आगे सिर झुकाऊँगा और आजन्म सेवा करता हुआ उसकी भलाई चाहता रहूंगा।" चण्डकी प्रचण्ड जयध्वनिसे सभामण्डप गूँज उठा। यथासमय पचास वर्षके महाराणाके साथ बारह वर्षकी रणमलकी कन्याका विवाह हो गया।

नयी रानीसे महाराणाको दो वर्षोंके बाद एक पुत्र हुआ, उसका नाम मुकुल रक्खा गया। मुकुल पाँच वर्षका होगा, उस समय महाराणाको समाचार मिला कि, गया क्षेत्रपर मुसलमानोंने चढ़ाई की है और धर्मरक्षाके लिये लोग महाराणाकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। तुरन्त महाराणाने सेना संग्रहकर गयाकी ओर प्रयाण करनेकी तैयारी की और चण्डसे पूछा,—"मुकुलकी जीविकाका क्या प्रबन्ध करोगे?" चण्डने उत्तर दिया,—"मेवाड़का सिंहासनदान।" अब लाखाने समझ लिया कि, चण्डकी प्रतिज्ञा अटल है। उसी दिन चण्डने सब सामन्तोंको निमन्त्रित कर, मुकुलको राजतिलक किया और सबसे पहिले उसके आगे घुटने टेककर प्रणामपूर्वक उपायन अर्पण किये। प्रसन्नचित्तसे लाखा जो राजप्रासादसे निकले, सो पुनः नहीं लौटे। इधर मुकुल अल्पवयस्क होनेके कारण उनकी ओरसे चण्ड राज्यकार्य करने लगे।

दुर्जनोंका निवास सर्वत्रही रहता है। कुछ दुष्टोंने युवती राज-माताके कान भरे कि, चण्ड मुकुलको मारकर स्वयं चित्तौरका अधिपति बनना चाहता है। इसपर राजमाताको बिश्वास हो गया, परन्तु इस बातको सुनकर चण्डको बहुत दुःख हुआ। वे मातासे यह कहकर चित्तौरसे चले गये कि,—"मा। यदि मैं राज्यसिंहासन

चाहता, तो मुकुलको स्वयं राज्याभिषेक न करता । अस्तु, मैं आपसे बिदा चाहता हूं । अब चित्तौरकी प्रजाका सुख दुःख, हानि लाभ आपके हाथ है । पवित्र शिशोदिया कुलकी कीर्ति और प्रतिष्ठाकी रक्षा करनेमें श्रीएकलिङ्गजी आपको सहायता करें और मुकुल दीर्घायु हों ।"

चण्डके चले जानेपर राजमाताने अपने पिता और भाईको बुला लिया । वे ही चित्तौरका राज्य सम्हालने लगे । परन्तु स्वार्थसे कौन बचा है ? रणमलकी मति बदली । उसने चण्डके छोटे भाईका वध कर मुकुलकोभी मारकर राज्य हड़प लेनेका निश्चय किया । जब पिताके इन विचारोंको राजमाताने विश्वस्त राजपुरुषोंसे सुना, तब वह बहुत घबड़ायी । और कोई उपाय न देखकर, उसने चण्डके पास पत्र द्वारा सब वृत्तान्त लिख भेजा और उनसे राज्यरक्षा करनेकी प्रार्थना की । चण्डके पास मनुष्यबल नहींके समान था । तो भी उनके साथ चित्तौर छोड़कर आये हुए दोसौ रणवीर भीलोंको साथ लेकर चण्डने राजनीतिक कौशलसे रणमलके साथ युद्ध किया और उन्मत्त मद्यप रणमल तथा उसके पुत्र जोधाको मारकर मुकुलका राज्य निष्कण्टक कर दिया ।

सौतेले भाइयोंको परस्पर कैसा वर्ताव करना चाहिये, इसकी शिक्षा वीरवर चण्डके चरित्रसे मिलती है । हंसीमें कहा हुआ भी पितृवचन मिथ्या न हो, इस लिये चण्डने जैसा त्याग किया, उसकी तुलना नहीं है । पिताके सन्तोषके लिये पितामह भीष्मने समग्र भारतवर्षके राज्यका जैसा त्याग किया था, वैसा ही चण्डने चित्तौरके राज्यका त्याग किया, इसीसे उन्हें राजपूतानेका भीष्म कहते हैं ।

———*———

महाराणा कुम्भ ।

चण्डके देहान्तके पश्चात् मुकुलने बड़ी योग्यतासे राज्य किया और तुगलक जैसे बादशाहको कई बार युद्धमें हराया। परन्तु उनका उत्कर्ष लाखाके भाइयोंकी आंखोंमें खटकता था। अवसर पाकर उन्होंने मुकुलको मार डाला और मेवाड़पर अधिकार करना चाहा। उस समय मुकुलके पुत्र कुम्भ बालक थे। पितामहोंके संकटसे उद्धार पानेके लिये उन्होंने अपने चिरवैरी राठौरोंसे सहायता मांगी और राठौरोंने भी पहिला वैरभाव छोड़ कर उदारतासे सहायता दी। राठौरोंके पराक्रमके आगे लाखाके भाई ठहर न सके। सब हार कर भाग गये। महाराणा कुम्भ शान्तिसे राज्य करने लगे।

कुम्भका बढ़ता हुआ प्रताप देख, गुजरात और मालवेके मुसलमान बादशाह मिलकर उनके दमनका उद्योग करने लगे। दोनोंके साथ कई बार घनघोर युद्ध हुआ, परन्तु कुम्भकी ही विजय होती गयी। सम्बत् १४९६ के युद्धमें तो कुम्भ मालवेके बादशाह मुहम्मद खिलजीको हराकर कैद कर लाये और गुजरातका बादशाह भाग गया। इसी तरह कुम्भने सुभन् नामक स्थानमें दिल्लीके सम्राट्को भी हराया था। उदारतामें राजपूत प्रसिद्ध ही हैं। जैसी उदारतासे पृथ्वीराज चौहानने मुहम्मद गोरीको कई बार कैद करके छोड़ दिया, हमीरने मुबारकको छोड़ दिया, वैसी ही उदारतासे कुम्भने मालवेके मुहम्मदको छोड़ दिया।

इस विजयकी स्मृतिमें कुम्भने दिल्लीके कुतुबमीनारसे भी ऊँचा एक स्तम्भ बनवाया, जिसके बनवानेमें नौ लाख रुपये लगे थे।

इसके अतिरिक्त मेवाड़को दृढ़ करनेके लिये उन्होंने ३२ बड़े किले, कितने ही महल और मन्दिर बनवाये। इनके निर्माणमें करोड़ों रुपयोंका व्यय हुआ था। केवल कुम्भश्यामके मन्दिरके बनवानेमें ही १० करोड़ रुपये लगे थे। इससे अन्य दुर्गों और भवनादिके निर्माणमें लगे हुए धनका अनुमान हो सकता है। अद्वितीय पराक्रम और दुर्ग, मन्दिर तथा भवनोंके निर्माणसे कुम्भकी कीर्ति अचल हुई है। महाराणा कुम्भके समयमें मेवाड़में जैसी शान्ति विराजती थी, वैसी और किसी महाराणाके राजत्वकालमें नहीं थी।

एक दिन अकस्मात् ऊदा नामक हत्यारेने कुम्भको छूरीसे मार कर राज्यासन ले लिया। परन्तु वह उसका उपभोग न कर सका। थोड़े ही दिनोंमें कुम्भके पुत्र रायमलने उसे गद्दीसे उतार कर पैतृक सिंहासनपर अधिकार किया। जिससे प्रजा बड़ी प्रसन्न हुई। रायमलने दिल्लीश्वर लोदी और मालवेन्द्र गयासुद्दीनको हराया था। उनके साँगा (संग्रामसिंह,) पृथ्वीराज और जयमल नामक तीन पुत्र थे। ये तीनों आपसमें लड़ते थे, इस कारण पृथ्वीराज और साँगाको पिताने राज्यसे बाहर निकाल दिया था।

तक्षशिलाके अधीश्वर शूरथान सोलङ्कीको अफ़गानोंने राज्यच्युत कर दिया था। शूरथानके एक मात्र परम सुन्दरी तारा नामकी कन्या थी। उन्होंने प्रण किया था कि, जो वीर तक्षशिलाका उद्धार करेगा, उसको मैं अपनी कन्या ब्याह दूंगा। जयमलने तक्षशिलाके उद्धारको प्रतिज्ञा की। पर उद्धार करनेके पहिले ही तारासे विवाह करना चाहा। इससे असन्तुष्ट हो, शूरथानने उसे मार डाला। इधर मेवारको हानि पहुँचानेवाले मीन जातिके लोगोंके साथ पृथ्वीराज बहुत दिनोंतक लड़ते रहे। मीनोंसे छीन कर कई किले और ग्राम उन्होंने पिताके राज्यमें मिला लिये और तक्षशिलाका उद्धार कर, तारासे विवाह किया। उनकी वीरतासे

प्रसन्न हो, उन्हें पिताने अपने पास बुला लिया। तदुपरान्त पृथ्वी-राज गुजरातके बादशाहको हरा कर, उसे मेवाड़में कैद कर लाये थे। परन्तु वे अधिक दिनोंतक राज्यवैभवका सुख नहीं भोग सके। उन्हें उनके बहनोईने विष देकर मार डाला। इसी पुत्रशोकसे थोड़े ही दिनोंमें रायमलका भी देहान्त हो गया। उनके पश्चात् राणा साँगा सिंहासनपर बैठे। इनका राजत्वकाल इतिहासोंमें बहुत ही समुज्वल माना गया है।

महाराणा संग्रामसिंह।

संग्राम सिंहने मालवेके बादशाहको अट्ठारह बार और दिल्ली के बादशाह इब्राहिम लोदीको दो बार युद्धमें हराकर मेवाड़ राज्यका विस्तार बहुत बढ़ा लिया था। बीनासे मालवा और सिंधसे अरावली पर्वतमालातक उन्हींका राज्य फैला था। उनके अधीन ७ राजा, ९ राव और १०४ ऊँची श्रेणीके रावल थे। मारवाड़ और अम्बर (जयपुर)के राजाओंने भी उपायन अर्पण कर, उनका सम्मान किया था।

सन् १५२६ में लोदीको हरा कर जब बाबरने दिल्लीका राज्य हस्तगत किया, तब उसे भी संग्रामसिंहसे सन् १५२७ में प्रथम 'कनवा' नामक स्थानमें और फिर 'बियाना' में लड़कर हारना पड़ा। बाबर भाग कर चुप नहीं रहा। पुनः नयी सेनाका सङ्गठन कर, उसने चित्तोरपर चढ़ाई की। बाबर राजनीतिकुशल था। उसने संग्रामसिंहके विश्वस्त सेनापति शिलादित्यको मिला लिया था, इस कारण इस युद्धमें शिलादित्य महाराणासे विश्वासघात

कर सेनासमेत बाबरसे जा मिला। संग्रामसिंहकी हार हुई। वे चित्तोर नहीं लौटे। जङ्गलमें रह कर ही उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि, बाबरको हराये बिना मैं चित्तोर नहीं लौटूँगा। वे अपनी इस प्रतिज्ञाको अवश्य पूरी करते, परन्तु वहीं उनका असामयिक देहावसान हो गया, जिससे वीर बाबरको भी दुःख हुआ।

संग्रामसिंहके विक्रमाजित और उदयसिंह नामक दो पुत्र थे। उनमें से विक्रमाजितके सिंहासनपर बैठते ही गुजरात और मालवेके बादशाहोंने मेवाड़पर चढ़ाई की। इस युद्धमें ३२००० राजपूत काम आये और विक्रमकी पूरी हार हुई। राज्यरक्षाका कोई उपाय न देख, राजमाता कर्णवतीने बाबरके पुत्र हुमायूँ—जो उस समय दिल्लीश्वर था—के पास राखी भेज कर, उससे सहायता माँगी और हुमायूँने भी सहायता देना स्वीकार कर लिया। राजपूतोंमें यह प्रथा है कि, कोई स्त्री किसी वीर पुरुषके पास जब राखी भेजती है, तो उसे उस स्त्रीको अपनी बहिन मान लेना पड़ता था। बहिनका नाता स्वीकार कर हुमायूँ बड़ी भारी सेना लेकर मेवाड़की ओर चल पड़ा सही, परन्तु वह पहुंचने भी नहीं पाया था कि, गुजरात और मालवेके बादशाहोंने चित्तोड़को छार खार कर दिया। विक्रम जङ्गलोंमें भाग गये, उदयसिंहको बूँदीके हाड़ा शूरथान वीरतासे लड़ते हुए अपने राज्यमें ले गये और १३ हजार राजपूत महिलाओंके साथ कर्णवती अपने आपको जलाकर भस्म हो गयीं। दोनों बादशाह श्मशानके समान उजाड़ हुए, मेवाड़में उन्मत्त होकर भूतोंके समान आनन्दोत्सव मना रहे थे कि, उन्हें समाचार मिला, हुमायूँ हमें दण्ड देने आ रहा है। दोनों चित्तोड़ छोड़ भाग निकले। इधर हुमायूँने पहुँचकर कर्णवतीके लिये दो आँसू टपकाये। दोनों अन्यायियोंको धिःकारा और राजधानीका पुनः शृङ्गार कर विक्रमको राज्यतिलक किया।

हुमायूँके लौट जानेपर विक्रम राज्य करते थे, परन्तु उनके राज्य प्रबन्धसे प्रजा प्रसन्न नहीं थी। उदयसिंह बहुत छोटे थे, इससे प्रजाने विचार किया कि, जबतक उदयसिंह सयाने न हो लें, तब-तक पृथ्वीराजके दासीपुत्र वनवीर उनकी ओरसे राज्य करें और उदयसिंहकी अवस्था सम्हलनेपर उन्हें राजतिलक किया जाय। तदनुसार प्रजाने विक्रमको राजगद्दीसे उतार कर वनवीरको राजा बनाया। परन्तु थोड़े ही दिनोंमें वनवीरकी मति बदली। उसने विक्रम और उदयको मार डालनेका निश्चय किया। नीच वनवीरका यह कुविचार किसी प्रकार उदयकी पन्ना नामकी दाई जान गयी थी। उसने उदयके स्थानमें अपने पुत्रको सुला दिया और एक विश्वस्त बारीके हाथों उदयको कमलमेरके नरेश सोनगढ़े सरदार आशाशाहके पास सुरक्षितरूपसे पहुँचा दिया। रात्रिके समय पूर्वसङ्केतानुसार वनवीरने सोये हुए विक्रमको और पन्नाके पास आकर उदयके भ्रमसे उसके पुत्रको मारकर अपना राज्याधिकार निष्कण्टक कर लिया। अब वह राज्यमदसे उन्मत्त होकर सब सामन्त, सरदार और प्रजाको दुःख देने लगा। कोई उपाय न देख, सभी चुप मारे अत्याचार सहते थे। जब उन्हें उदयके जीवित होनेका समाचार मिला, तब सभी बड़े प्रसन्न हो उठे। बड़े ठाठ बाटसे सब उदयसिंहको आशाशाहके साथ चित्तोर ले आये। वनवीरको गद्दीसे उतारकर सुमुहूर्तपर उदयसिंहको राजतिलक किया गया। और आशाशाह, बारी तथा पन्नाको बधाई दी गयी। क्योंकि उन्हींकी कृपासे मेवाड़के सच्चे अधिकारीकी रक्षा हुई थी। चित्तोरमें आनन्द बरसने लगा। सब प्रजा सुखी हुई। राज्यसे बहुतसा धन पाकर वनवीर दक्षिणमें भाग गया। कहते हैं, नागपुरके भोंसला उसीके वंशज हैं।

महाराणा उदयसिंह ।

अब दिल्लीके सिंहासनपर अकबर विराजमान था। उदय-सिंहको मेवारका राज्यासन मिलनेपर वे राज्यकार्यकी ओर विशेष ध्यान न देकर विलासी और स्त्रीलम्पट बन गये थे। 'वीरा' नामकी एक राजपूतानी उनकी उपपत्नी थी, उसीके प्रेमपाशमें फँसकर उदयसिंहने राजाके कर्तव्योंको भुला दिया था। उनकी असावधानीसे लाभ उठाकर अकबरने मेवारपर चढ़ाई की और उदयसिंहको कैद कर लिया। उदयसिंहके प्रति प्रजाकी सहानुभूति न होनेके कारण उनके छुड़ानेका किसीने उद्योग नहीं किया, परन्तु 'वीरा' चुप न रही। उसने सब राजपूतोंको धिःकार कर, स्वयं पुरुषवेष धारण किया और अकबरके साथ घोर युद्ध कर वह उदयसिंहको छुड़ा लायी। सर्वत्र वीराकी कीर्ति बढ़ती हुई देख, सरदारोंको उससे डाह हुई और सबने मिलकर एकान्तमें एक दिन उसे मार डाला।

इस घटनासे उदयसिंहको शिक्षा ग्रहण कर, अपना बल बढ़ाना था। क्योंकि उसको मेवारके वीरोंने नहीं, किन्तु एक सामान्य स्त्रीने बन्धनसे छुड़ाया था, जो एक वीरके लिये लज्जाजनक बात है। परन्तु उदयसिंहने इसका कुछ विचार न कर, विलासिता नहीं छोड़ी। अकबरने अपने पहिले अपमानका बदला चुकानेके विचारसे अवसर देखकर चित्तोरपर फिर चढ़ाई की। इस युद्धमें गवालियरके तुवर राजा, मदेरियाके राव डूँदा, देवलके महाराज, झालोरके सोनगढ़े सरदार, ईश्वरदास राठौर, करमचन्द्र कछवाहा, चन्दावतके सहीदास आदिने पूरी सहायता दी और लाखों राजपूत जी खोलकर लड़े। बदनौरके जयमल और कैलवाड़ेके पत्ते नामक दोनों राजकुमार तो ऐसे लड़े कि, उनसे पार्थपुत्र अभिमन्यु

तुलना हो सकती है। रणभूमिमें राजपूत वीरोंका सेनासमुद्र सर्वत्र उमड़ रहा था। यह नहीं कि, केवल पुरुष ही इस युद्धमें सम्मिलित हुए थे, पत्तेकी माताके नेतृत्वमें असंख्य राजपूत ललनाएँ भी दुर्गाका रूप धारण कर, दुर्दान्त दानवोंका दलन कर रही थीं। परन्तु दुःखकी बात है कि, भीरु और आलसी उदयसिंह, जीतकी पूरी आशा होते हुए, रणसे भाग निकले। जिनकी रक्षा और सम्मानके लिये राजपूत स्त्री-पुरुष रणमें आत्मसमर्पण कर रहे थे, उनके अनार्योचित आचरणसे सभी विषण्ण हो गये। उत्साह ही तो विजयका आधार है। सबके निरुत्साह होते ही शत्रु अधिक उत्साहित हो आगे बढ़े। घमासान युद्ध कई दिनोंतक चला, पर अन्तमें गवालियर नरेशको छोड़ क्रमशः सभी वीर शत्रुओंके द्वारा मारे गये और वीराङ्गनाओंने अग्नि नारायणकी गोदमें आश्रय लिया। चित्तोरमें श्मशानकी छटा छा गई। राजपूतानेके इतिहासमें इससे बढ़कर कोई युद्ध नहीं हुआ। इसमें इतने क्षत्रिय काम आये थे कि, उनके जनेऊ ७४॥ मन हुए थे। तभीसे गुप्तपत्रपर ७४॥ का अङ्क लिखा जाता है। इसका अर्थ है कि, दूसरा कोई यदि पत्र खोले, तो उसे उतने ही वीरोंकी हत्या लगेगी, जितनोंके वे जनेऊ थे। इस मनुष्यहानिसे अकबरको भी बड़ा खेद हुआ।

उदयसिंह भागकर राजपिप्पलीमें गोहिल लोगोंके पास चले गये। फिर 'गिल्होट' नामक पहाड़ी स्थानमें जाकर उन्होंने वहां 'उदयसागर' नामक एक तालाव बनवाया और उसीके निकट नवनिर्मित 'वनचौकी' महलमें वे रहने लगे। धीरे धीरे वहां अच्छी बस्ती हो गई। उसी सुन्दर नगरीका नाम 'उदयपुर' रक्खा गया और वहीं मेवारकी राजधानी हुई। प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रतापसिंह उदयसिंहके ही ज्येष्ठ पुत्र थे।

महाराणा प्रतापसिंह।

भारतवर्षके मुसलमान बादशाहोंमें अकबर जैसा चतुर कोई न हुआ। उसने चतुरतासे अनेक प्रलोभनोंमें फंसाकर मारवाड़, जयपुर, बूँदी आदिके राजाओंको मिला लिया था। जयपुरके राजा मानसिंह तो उसपर ऐसे रीझे थे कि, उन्होंने अपनी बहिन उसे ब्याह दी और शाही सेनापतिका पद प्राप्त किया। इन राजाओंको मिलानेका मुख्य उद्देश्य यही था कि, इनकी सहायतासे सूर्यकुलके प्रधान राणाके राज्यको नष्ट या अपने अधीन कर लिया जाय, जिससे स्वयं सम्राट् कहानेमें कोई रुकावट न रहे।

यद्यपि प्रतापसिंह ही मेवाड़की गद्दीके सच्चे अधिकारी थे, तथापि उदयसिंहने अपने छोटे पुत्र जयमलको उत्तराधिकारी बनाया था। उदयसिंहकी इधर अन्त्येष्टि क्रिया हो रही थी, उधर जयमल अपने सिंहासनारोहणका उत्सव मना रहा था। क्षत्रिय राजाओंमें यह प्रथा है कि, एक राजाका देहान्त होते ही, खाली गद्दी न रखकर, दूसरा राजा तुरंत गद्दीपर बैठ जाता है। उदय-सिंहका अन्तिम सत्कार कर जब सरदारों सहित प्रतापसिंह घर लौटा, तो जयमलको उसने गद्दीपर बैठा पाया। इस अन्यायसे असन्तुष्ट और क्रुद्ध हो, उनके मामा सोनगढ़े सरदार, चन्दावत सरदार कृष्णराव और ग्वालियरके पदच्युत तुवर राजाने जयमल-को उतार कर प्रतापसिंहको गद्दीपर बैठाया। इस न्यायपरायण-तासे उक्त सरदारोंकी बड़ी प्रशंसा हुई।

प्रतापसिंह महाराणा बने सही, पर उनके पास सेना, धन, जन आदिका बल नहीं था। प्रायः समस्त राजपूत, यहाँतक कि, प्रतापके सगे भाई सागर और सक्ता भी, अकबरसे जा मिले थे।

सभी हिन्दु-मुसलमानोंके शक्तिशाली राज्य प्रतापका नाश करनेपर तुले हुए थे। एक उत्साह और दूसरा धर्म ही उनका सहायक था। उसीके बलपर वे कहते थे कि, मैं अपनी माताके पवित्र दूधको, यवनोंके आगे शिर झुका कर कलङ्कित नहीं करूँगा। 'जो दृढ़ राखे धर्मको तेहि राखे करतार' इस अटल सिद्धान्तपर डँटे रहनेसे ही प्रताप विजयी हुए और उनके दृढ़ धर्म पालनसे उनका नाम अमर तथा हिन्दु जातिका मुख उज्ज्वल हुआ है।

मानसिंह एक बार दक्षिणसे युद्ध कर दिल्ली लौट रहे थे, बीचमें उदयपुर पड़ा। महाराणाने अतिथि समझ कर उनका उचित आदर सत्कार किया, परन्तु भोजनके समय स्वयं उपस्थित न हो कर कुमार अमरसिंहको भेज दिया। उन्होंने कुमारसे महाराणाके न आनेका कारण पूछा। कुमारने उनके शिरमें पीड़ा होनेका कारण बताया। मानसिंहने समझ लिया कि, मेरे मुसलमानोंके साथ सम्बन्ध कर लेनेके कारण, महाराणाने मेरे साथ भोजन करना अनुचित समझ कर मेरा अपमान किया है। वे भोजन छोड़, तुरन्त उठ खड़े हुए और बोले—"महाराणाके शिरकी पीड़ाका कारण मैं जान गया। मैं अन्नको शिर चढ़ाता हूँ, पर राणाजीसे कह देना कि, यदि मैं आपका मान मर्दन न कर सका, तो मेरा नाम मानसिंह नहीं।" यह दर्प भरी उक्ति सुन, महाराणाने वहां आकर कहा,—"ठीक है, आपको रणभूमिमें देखकर मैं बहुत प्रसन्न होऊँगा"। राणाजीके साथका एक सरदार बोल उठा,—"साथमें अपने बहनोईको भी लेते आइयेगा।" मानसिंहके आग बबूला होकर चले जानेपर महाराणाने उसके स्पर्शसे कलङ्कित हुई भूमि शास्त्रोक्त विधिसे पवित्र करवाली थी।

अकबर प्रतापसे लड़नेका कोई बहाना सोच ही रहा था, इतनेमें दिल्ली पहुँचकर मानने अपने अपमानका दुखड़ा रोया।

फिर क्या था! तुरन्त उसने सेना तैयार करा, सक्ता तथा मुहब्बत खाँको साथ दे, अपने पुत्र सलीमको सेनापति बनाकर मेवाड़पर चढ़ाई करनेकी आज्ञा दे दी। इस सेनामें दो लाख मुसलमान और सहस्रों राजपूत तथा अन्य जातियोंके वीर थे। इनके पास बहुतसी तोपें, बन्दूकें और तरह तरहके युद्धके हथियार थे। प्रतापके पास केवल २२ हज़ार राजपूत और थोड़ेसे भील वीर तथा बर्छी, भाले, तीर आदि सादे युद्धोपकरणोंके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। तो भी अदम्य उत्साहसे छत्र चामरादि राजचिन्ह धारण कर, हल्दीघाटी नामक स्थानपर वे अपने उक्त थोड़ेसे साथियोंके साथ मुसलमानी सेना-सागरमें कूद पड़े। दोनों दलोंके वीर प्राणपणसे लड़ने लगे।

श्रावण शुक्ला सप्तमीको यह युद्ध हुआ। ऐसे घनघोर युद्धका उदाहरण इतिहासमें नहीं है। इस युद्धमें मोगलोंके ५० हज़ार और प्रतापके १४ हज़ार सैनिक काम आये। स्वयं टाड साहबने लिखा है कि, स्वाधीनताकी रक्षाके लिये ग्रीस और भारतवर्षके अतिरिक्त ऐसा प्रचण्ड और भयङ्कर संग्राम संसारमें कहीं नहीं हुआ। थोड़ेसे वीरोंकी सहायतासे अगणित मोगल सेनाके साथ लड़कर सलीमको प्रतापने रणाङ्गणसे भगा दिया। मोगलोंके मोरचे तोड़ डाले, बहुतसी तोपें, बन्दूकें और युद्धास्त्र छीन लिये, मोगल तितर बितर हो, जहाँ तहाँ भागने लगे और समस्त संग्रामभूमि रूपी आकाशमें एक प्रतापी प्रताप ही मध्यान्हके सूर्य भगवान्‌के समान चमकने लगे। उन्होंने रणभूमिमें मानको बहुत खोजा, पर वह नहीं मिला। मिलता कहांसे? वह देशद्रोही आया ही नहीं था। एक बार तो प्रताप मोगल सेना-सागरमें पहुंचने हुए, चारों ओरसे शत्रुओं द्वारा घिर जानेके कारण, इतने शिथिल हुए कि, उन्हें जीवनकी आशा न रही। परन्तु उसी समय मन्नाजी झाला १५०० सैनिकों

सहित प्रतापका जय जयकार करते हुए वहां आ पहुंचे, जिससे उनका साहस द्विगुणित हो गया। मन्नाजीने सेनामें घुसकर प्रतापके राजचिन्ह स्वयं धारण कर लिये, जिससे मोगल उन्हींको प्रताप समझ कर लड़ने लगे। मन्नाजी अपने सब सैनिकों समेत सूर्य मण्डलको भेदन कर स्वर्ग चले बसे सही, पर उनकी इस अभूतपूर्व स्वामिभक्तिसे प्रताप सुरक्षित रूपसे अपने शिबिरमें लौट आ सके। प्रताप और उनका घोड़ा चेतक दोनों दिन भर युद्ध करने और अनेक घावोंके शरीरमें लगनेसे बहुत ही थक गये थे। शिबिर बहुत दूर नहीं रह गया था, एक नाला भर बीचमें था, इतनेमें प्रतापको पीछेसे किसीने पुकारा और साथ ही उन्हें बन्दूकका शब्द सुनायी दिया। पीछे न देखकर उन्होंने घोड़ेको सङ्केत किया। घोड़ा नाला पार कर गया। सुरक्षित स्थानमें पहुंचे जान, घोड़ेसे उतर कर प्रतापने पीछे मुड़कर देखा तो उन्हें सक्ता दिखाई पड़ा। वे गरज कर बोले,—"भाई, लो, अब इस एकाकी थके हुए प्रतापके प्राण ले लो। यवनोंके हाथों मरनेकी अपेक्षा सहोदरके हाथसे मरना कहीं अधिक अच्छा है।" इतनेमें सक्ता वहाँ आ पहुँचा और प्रतापके चरणोंपर गिर कर रोने लगा। उसकी ऐसी दशा देख, प्रतापके हृदयमें भी भ्रातृस्नेह उमड़ पड़ा। उन्होंने उसे उठाकर छातीसे लगा लिया। इस प्रेमसंयोगके समय ही चेतकने प्राण विसर्जन किये, जिससे दोनों बहुत दुःखी हुए।

प्रताप और सक्ता एक दिन बातों बातोंमें उलझ पड़े और भाले तान कर एक दूसरेको मार डालनेपर तुल गये थे। यह देख, उनके कुलपुरोहितने बिचवई की; पर जब देखा कि, दोनोंमेंसे कोई नहीं सुनता, तो कटारी छातीमें भोंककर उन्होंने आत्महत्या कर ली। इस घटनासे दोनोंकी आँखें खुलीं। खिन्न हो, प्रतापने सक्ताको घरसे निकाल दिया। वह सीधा दिल्ली पहुंच कर

अकबरका विश्वासपात्र बन गया। जब वह मेवाड़ पर चढ़ाई करने भेजा गया, तब प्रतापका रणकौशल देख, उसके हृदयमें भ्रातृ-स्नेहके कारण आनन्दकी लहरें उठने लगीं, और वह हृदयसे उनका मङ्गल मनाने लगा। उपर्युक्त घटनाके अनन्तर सक्ता बादशाहकी अधीनताको त्यागकर प्रतापके पास रहने लगा। हल्दीघाटीमें मुसलमानोंके साथ प्रतापने इस लड़ाईके अतिरिक्त ४६ बार युद्ध कर विजय प्राप्त किया था। सक्ता भी साथ रहता था। उसने स्वतन्त्ररूपसे लड़कर 'भिसरोर' नामक किला मोगलोंसे छीन कर प्रतापको अर्पण किया था; परन्तु उदार-हृदय प्रतापने वह स्वयं न लेकर उसीको लौटा दिया।

४८ वीं बार मेवाड़ पर मुसलमानोंकी बड़ी कड़ी चढ़ाई हुई। इसमें मुहब्बतखांने उदयपुर, राजा मानने धरमेती और गोमुण्डा, शाहबाज़खांने कमलमेर, अमीशाहने चौण्ड और अगुणापानोर, फ़रीदखांने चप्पन ले लिया। चित्तौर पहिले ही हाथसे निकल गया था। इस प्रकार सुरक्षाके सब स्थान मुसलमानोंके हाथ लग जाने और सब प्रकारसे असहाय होनेके कारण प्रतापको बनवासी होना पड़ा। यद्यपि कभी कभी प्रतापकी खोजमें निकले हुए सहस्रों मुसलमानोंसे इनका सामना हो जाता था और वे अकेले सबको मार भगाते थे, तथापि धन-जन-बल (सेना) हीन होनेके कारण कोई अपना स्थान शत्रुओंसे लौटा न ले सके। जिस जिस स्थानमें वे गये, वहींसे मुसलमानों और स्वदेशद्रोही हिन्दुओंके अत्याचारोंसे उन्हें भागना पड़ा। पहाड़ों, कन्दराओं और जङ्गलोंमें घूमते, लड़ते-झगड़ते, अन्नकष्ट सहते तथा अनेक दुःख भोगते हुए प्रतापके २५ वर्ष बीत गये; परन्तु वे अपनी प्रतिज्ञासे तिल भर भी नहीं हटे। आश्चर्य्य इस बातका है कि, सङ्कटके समयमें प्रतापको स्वजातीय लोगोंके छोड़ जाने पर भी भीलोंने अन्ततक

उनका साथ नहीं छोड़ा। प्रतापकी रानी और पुत्र, कन्या विश्वासपात्र भीलोंकी निरीक्षकतामें रहती थीं। कभी कभी मुसलमान भीलोंको पकड़ कर निर्दयतासे सता सताकर मार डालते थे, पर कभी किसी भीलने स्वामिद्रोह नहीं किया, प्रताप या उनके कुटुम्बियोंका पता नहीं बतलाया।

निबिड़ अरण्यमें एकदिन महारानीने घासकी रोटी बनाई। वह आधी पतिको दी और आधीके तीन भाग कर स्वयं, पुत्र और कन्यामें बाँटली। सभी पाँच दिनोंके भूखे थे। प्रताप स्वातन्त्र्य-प्राप्तिका उपाय सोचते हुए हरी घासपर लेटे थे। इतनेमें बन बिलाड़ कन्याके हाथसे वह रोटीका टुकड़ा छीनकर ले भागा। कन्या चीख उठी। प्रताप और महारानीको इस घटनासे बड़ा दुःख हुआ। दोनों उद्विग्न हो उठे। प्रतापका धैर्य जाता रहा। हतोत्साह हो, इस दुर्दशासे बचनेके लिये उन्होंने अकबरको सन्धिके लिये पत्र लिखा। प्रतापका पत्र पाकर अकबर और उसके दरबारी बड़े प्रसन्न हुए। नगरमें लोग आनन्दोत्सव मनाने लगे। परन्तु जोधपुरके राजकुमार पृथ्वीराज—जो अकबरके बन्दी थे, उनको इससे बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अकबरसे स्पष्ट कहा कि, यह पत्र प्रतापका नहीं है। साथ ही प्रतापको एक पत्र लिखा; जिसमें लिखा था,—'पुण्यशील प्रताप! यह समय धैर्य छोड़नेका नहीं है। सब राजपूत अकबरके हाथ बिक चुके हैं। अब यदि क्षत्रिय कुल गौरव रक्षाकी किसीसे आशा है, तो वह आपसे ही। आप अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहें। भगवान एकलिङ्गजी (प्रतापके कुलदेव) आपकी सहायता करेंगे।' इस पत्रसे प्रतापके शरीरमें नवजीवनका सञ्चार हुआ और उन्होंने सन्धिका विचार छोड़ दिया। प्रताप हतप्रभ हुए जानकर मेवारके इधर उधर जो मुसलमान अधिकारी थे, वे निश्चिन्त आनन्द कर रहे थे। उत्साहित प्रतापके

थोड़ेसे साथियोंको लेकर उनपर धावा करतेही वे छितरा गये। पर इससे क्या होता है? थोड़ेही दिनोंमें पुनः नयी सेना वहाँ आगई। उससे सामना करना असम्भव जान, प्रतापने मेवाड़ छोड़, सिन्धमें नया राज्य स्थापन करनेका निश्चय किया।

मेवाड़से अन्तिम बिदा होनेके लिये स्त्री पुत्र और जिन्होंने सुखदुःखमें उनका साथ दिया था, उन गिने गिनाये सरदारोंके साथ प्रताप मेवाड़की सीमाके अरावली पर्वतके एक शिखरपर चढ़े। उन्होंने हृदयविदारी एक ठण्ढी सांस लेकर मनही मन कहा,—"हा! अभागे प्रताप! तुझसे चित्तौरका-मेवाड़का-उद्धार न हो सका।" एक बार उन्होंने अपनी जन्मभूमिकी ओर प्रेम-भक्ति-भरी दृष्टिसे देखा और अधोवदन होकर उसके चरणोंपर दो आंसू टपका दिये। प्रतापकी इस दीन दशाको देख, जो नये पुराने परिजन और पुरजन उन्हें पहुंचाने आये थे, वे एक साथ रो उठे। आगत लोगोंमें प्रतापके वृद्ध मन्त्री भामाशा भी थे। इनके पूर्वजोंने मेवाड़के मन्त्री पदपर रहकर विपुल सम्पत्ति प्राप्त की थी। प्रतापके आँसुओंको देखतेही व्याकुल होकर वे बोल उठे—"अन्नदाताजी! यह शरीर और इसके पिता पितामह प्रभुके ही अन्नसे पले हैं। धिःकार है उन सेवकोंको, जो स्वामीको विपदमें देखकर भी स्वयं आनन्द भोगते हैं। लीजिये, इसी क्षण मैंने अपनी सब सम्पत्ति इन चरणोंमें अर्पण करदी। इसको स्वीकार कर प्रभु मेवाड़का उद्धार करें। नीतिमें कहाभी है,—

आया है सो जायगा क्या राजा क्या रङ्क।
यश बाक़ी रह जायगा, बाक़ी रहे कलङ्क॥"

भामाशाकी स्वामिभक्ति और उदारताको देख, सबके सब गद्गद होकर उनका जयजयकार करने लगे। इस जय शब्दसे पर्वत कन्दराएँ गूँज उठीं, मानों वनदेवियां अनुमोदन करती हों।

भामाशाकी यह सम्पत्ति इतनी अधिक थी, जिससे २५ सहस्र सेनाका बारह वर्षों तक व्यय चल सकता था। इस सम्पत्तिसे नये उत्साहसे प्रताप सेना सङ्ग्रह करने लगे। थोड़ेही समयमें पर्याप्त सैनिक, घोड़े, हाथी, अस्त्र, शस्त्र आदि तैयार होगये। प्रथम प्रतापने 'देवीर' और 'कमलमेरके किलोंपर धावा किया। वहांके मोगल सेनापति शाहबाज़ख़ां और अब्दुल्लाको सेना सहित मारकर दोनों किले प्रतापने हस्तगत कर लिये। जहां तहांके मुसलमान सेनानायक यही समझते थे कि, प्रताप सिन्धु प्रान्तमें भागगये हैं। परन्तु प्रतापका सेनासिन्धु अपनी ओर एकाएक उमड़ता हुआ आता देख, उन्हें 'किं कर्तव्यविमूढ़' होजाना पड़ा। एकके बाद दूसरा, इस प्रकार ३२ किले अपने अधिकारमें कर, देखते देखते प्रतापसिंहने मण्डलगढ़, चित्तौरगढ़ और अजमेरको छोड़, समस्त मेवाड़पर अपना प्रभुत्व पुनः स्थापित कर लिया। साथही इस विजयके उपलक्ष्यमें मानसिंहका मानमर्दन करनेके विचारसे उसका प्रधान नगर मालपुर लूट लिया। क्योंकि उसकी देशद्रोह, पूर्ण कुचक्रसे प्रतापको इतने कष्ट सहने पड़े थे।

उदयपुरमें पुनः राजधानी स्थापित होनेपर हिन्दुप्रजाके आनन्दकी सीमा नहीं रही। देशभरमें विजयोत्सव मनाये गये, ब्रह्म-भोज हुए, देवतार्चन किये गये और जहाँ तहाँ प्रतापके यशोगान गाये जाने लगे। उनके निर्मल चरित्र और अदम्य पुरुषार्थसे मित्रोंकी ही नहीं, किन्तु शत्रुओंकी भी उनपर परम श्रद्धा हो गई। स्वयं अकबर और मानसिंह उनकी प्रशंसा करते थे। इसके पश्चात् अकबरने प्रतापको फिर नहीं छेड़ा। अकबरके मुख्य मन्त्री ख़ानख़ानाने उन्हें एक काव्यमय अभिनन्दन पत्र भेजा था, जिसमें लिखा था,—"इस जगत्में सब कुछ अस्थायी होनेपर भी कीर्ति-सूर्य्य स्थायीरूपसे सदा प्रकाशित रहता है। सर्वस्व लुट जाने और

अनेक विपत्तियाँ सहनेपर भी आपने किसी आगे शिर नहीं झुकाया, अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहे, यही आपके जीवनका सर्वोच्च आदर्श है। आप जैसे महात्माओं द्वारा ही हिन्दुधर्म, जाति और देशकी रक्षा हो सकती है। आपका जीवन धन्य है।"
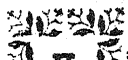
सब कुछ हुआ, पर चित्तौर-उद्धारकी प्रतिज्ञा पूर्ण न हो सकनेका काँटा प्रतापके हृदयमें अन्त समयतक चुभता ही रहा। इस कारण उन्होंने बाल नहीं कटवाये, धातु पात्रमें भोजन करना आरम्भ नहीं किया और आजीवन फूसकी झोंपड़ीमें ही वे रहे। अन्तिम समय उपस्थित होनेपर बार बार वे चित्तौरके उद्धारका स्मरण कर व्याकुल हो उठते और फिर बेसुध हो जाते थे। शान्तिके साथ प्राणोत्क्रमण नहीं होता हुआ देख, सब सरदारोंने उनके चरणोंपर हाथ रखकर शपथ ली कि, आमरण हम चित्तौर-उद्धारका यत्न करते रहेंगे और बिना चित्तौरको स्वतन्त्र किये विश्रान्ति नहीं लेंगे। इस शपथको सुनते ही प्रतापने दोनों हाथ उठाकर प्रसन्नता सूचित की। प्रताप और भगवान् एकलिङ्गजीका जयजयकार किया गया। प्रतापने प्रसन्न चित्तसे मातृ-भूमिकी पवित्र गोदमें महानिद्राका अनुभव लेना आरम्भ किया। सर्वत्र सन्नाटा छा गया।

प्रतापके देहान्तका समाचार बिजलीकी तरह देशभरमें फैल गया। उनके शत्रु मित्र क्षणमात्रके लिये देहभान भूलकर आँसू बहाने लगे। प्रतापके देहावसानका शोक अबतक भारतवासियोंके हृदयोंमें नयेके समान छाया हुआ है। प्रतापी प्रतापका ही यह प्रताप है कि, अब तक उनके प्यारे भारतके सच्चे पुत्र स्वाधीनताके लिये प्रिय प्राणोंका विसर्जन करनेमें नहीं हिचकिचाते।

महावीर परतापके जीवनको यहि सार।
"जो हठ राखे धर्मको तिहि राखे करतार॥"

महाराणा अमरसिंह।

महाराणा प्रतापसिंहके पश्चात् उनके पुत्र महाराणा अमरसिंहने उदयपुरका राज्यासन अलंकृत किया। यद्यपि पिताकी इच्छाके विरुद्ध उन्होंने झोंपड़ियोंके स्थानमें महल बनवाये, तथापि इनके समयमें राज्यका बड़ा ही सुप्रबन्ध हुआ। सब खेत नापे गये, सुयोग्य सरदारोंको नयी जागीरें दी गईं। सड़कें, कूप, तालाव, मन्दिर, धर्मशालाएँ, अतिथिशालाएँ, रुग्णालय आदि बने और राज्यके अनेक उपयोगी नियम बनाकर मेवाड़का आदर्श राज्य स्थापन किया।

राज्य सुधारके साथ साथ अमरमें विलासिताकी भी मात्रा बढ़ गई थी; क्योंकि अकबरकी कृपासे ७-८ वर्षोंतक उन्हें लड़ने झगड़नेका काम ही नहीं पड़ा। अकबरके देहान्तके पश्चात् जहाँगीरने सन् १६०८ में खानखानाके भाईके नेतृत्वमें मेवाड़पर चढ़ाई करनेके लिये बड़ी भारी सेना भेजी। देशपर सङ्कट आ रहा है, यह जानकर भी अमर विलासितामें पड़े रहे। सब सरदारोंको उनका यह बरताव बहुत अखरा। अन्तमें चन्दावत सरदारसे नहीं रहा गया। उन्होंने अमरको हाथ पकड़ कर बलपूर्वक घोड़े पर बैठाया और उन्हें लेकर राजपूत सेनाके सहित वे मुगलमानोंसे लड़नेके लिये देबीर नामक स्थानमें पहुंच गये। हिन्दु-मुसलमानोंमें तुमुल युद्ध हुआ,—विजय अमरसिंहकी ही हुई। यद्यपि इस युद्धमें प्रतापके भाई कर्णने ही अपूर्व वीरता दिखाई थी, तथापि इस विजयसे अमरको युद्धका चसका लग गया। पितृ-प्रतिज्ञा उनके हृदयमें जाग उठी। अपने सरदारोंसे क्षमा माँगकर और विलासिताका त्याग कर, उन्होंने चित्तौर उद्धारका निश्चय कर लिया।

जहाँगीरने सन् १६०९ में वीरवर अब्दुल्लाके सेनापतित्वमें पुनः एक बड़ी भारी सेना मेवाड़ विजयके लिये भेजी। अमरने रणपुर नामक स्थलमें उससे सामना किया। यद्यपि इस युद्धमें राणाके नामी नामी वीर मारे गये, तथापि इस बार भी मोगलोंको हार कर भाग जाना पड़ा। अब जहाँगीरने राजनीतिकी एक चाल चली। प्रतापका भाई सागर बादशाहकी अधीनतामें पड़ा था। उसीको चित्तौरका राणा बनाकर जहाँगीरने भेजा। सागरने यवनों द्वारा उध्वस्त खँडहरतुल्य चित्तौरमें राजधानी बनाई। परन्तु एक भी राजपूत न उससे मिला, न किसीने उसे राणा माना। अन्तमें अनेक प्रकारसे अपमानित और लज्जित होकर उसने अमरको प्रसन्नतासे चित्तौर दे डाला और स्वयं दिल्ली जाकर आत्महत्या कर ली। स्वर्गीय प्रतापकी इच्छा पूर्ण हुई, राजपूतोंका प्यारा चित्तौर अमरके हाथ आ गया, इससे राजपूतानेमें सबभर आनन्द छा गया। चित्तौरगढ़को पाते ही अमरने बड़ी भारी नयी सेना बनाई और थोड़े ही दिनोंमें चित्तौरके ८२ किले मुसलमानोंसे छीन लिये। अमरका अब एक विशाल राज्य बन गया। जहांगीरकी चाल खाली गई। वह इस घटनासे बड़ा ही दुःखित और लज्जित हुआ।

तीसरी बार जहांगीरने अपने पुत्र परवेज़के सेनापतित्वमें पहिलेसे भी बड़ी सेना भेजी। इस सेनाको भी अमरने थोड़ेसे राजपूतोंको साथ ले, खामनोर नामक स्थानमें युद्ध कर मार भगाया। यह युद्ध बड़ाही भयङ्कर हुआ। इसमें परवेज़के बड़ी कठिनतासे प्राण बचे थे। पुत्रके हारनेका समाचार जानकर बादशाहने अपने पौत्रको भेजा, पर वह भी हार गया। तब प्रसिद्ध सेनापति महावतखां विशाल सेनाके साथ आया। संयोगवश उसे भी पराजित होना पड़ा। इसी युद्धमें परवेज़का पुत्र सेनासहित काम आया। अमरका दैव अनुकूल होनेसे बादशाहकी जो जो सेना चित्तौर

विजय करने आई, वह बराबर हारती ही गई। इसी तरह अमरने सत्रह बार यवनराट्की सेनाको हराकर अपनी स्वाधीनता-रक्षा की थी। जहांगीरका राज्यविस्तार, धन, ऐश्वर्य, जनबल आदिके सामने अमरकी साधनसम्पत्ति दरियामें खसखसके बराबर होते हुए, अमरका सत्रह बार ऐसे प्रबल बादशाहको युद्धमें नीचा दिखाना कम गौरवकी बात नहीं है।

आठरहवीं बार जहांगीरने अपने वीर पुत्र खुर्रमको मेवाड़पर भेजा। इस समय अमरका धनबल अत्यन्त कृश हो गया था और उसकी सेनाके प्रायः सभी योधा स्वर्गवासी होगये थे। तौभी प्रजाने अपने जेवर वेचकर और पशुओंको गिरवीं रखकर राणाको पूरी सहायता दी। विश्वस्त सेवकोंने राणाका साथ दिया। राणा इस अत्यन्त थोड़ी सामग्रीके सहारे खुर्रमसे खूब लड़े; पर इस बार उन्हें हार जाना पड़ा। अब अमर बहुत ही शिथिल हो गये थे। विवश होकर जहांगीरसे उन्हें सन्धि करलेनी पड़ी। जहांगीरने उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक सद्व्यवहार किया। संवत् १६७७ में राजनचौकी नामक स्थानमें उनका देहावसान हुआ। उनके चरित्रसे सिद्ध हुआ कि, मनुष्य अपने मनको विलासितामें लगाकर चाहे तो जीवनका अधःपात कर लेता है और चाहे तो पुरुषार्थ कर स्वाधीनताकी रक्षा करते हुए आत्मा और मनुष्यजातिका कल्याण भी कर सकता है।

—:※:—

महाराणा राजसिंह।

उदयपुरके राज्यासनपर अनेक प्रतापी नृपति बैठे, उनमें राजसिंह विशेष उल्लेखनीय हैं। ये औरङ्गजेबके समकालीन थे। राजसिंहके पितासे जहाँगीरने भाईचारेका

सम्बन्ध कर लिया था, इस कारण राजपूत राजाओंकी सामाजिक प्रथाके अनुसार राजसिंहके शाही नगर मालपुरको लूट लेनेपर भी शाहजहाँने क्रुद्ध न होकर यही कहा कि, अभी मेरा भतीजा अबोध है। उसकी कृति ध्यान देने योग्य नहीं है। थोड़े ही दिनोंमें पिताको कैदकर और भाइयोंको मारकर औरङ्गजेब दिल्लीके सिंहासनपर बैठा और उसने हिन्दुओंपर अत्याचार करना आरम्भ किया। इससे रुष्ट हो, राजसिंहने जहाँगीरके साथ अमरसिंहकी की हुई सन्धिको तोड़ दिया। रूपनगरके जागीर-दारकी अद्वितीय सुन्दरी कन्या प्रभावतीसे औरङ्गजेब विवाह करना चाहता था। कई हजार सैनिक ले, दूल्हा बनकर वह रूप-नगरके निकट आया भी; परन्तु राजसिंहको इसका पता लगते ही शीघ्र चन्दावत सरदारके साथ रूपनगर जाकर प्रभावतीको वे व्याह लाये। चन्दावत सरदारके साथ लड़कर औरङ्गजेबको हार-कर खाली हाथ लौट जाना पड़ा।

जोधपुरकी गद्दीपर यशवन्तसिंह और जयपुरकी गद्दीपर जय-सिंह उस समय विराजमान थे। यशवन्तसिंह काबुलके और जय-सिंह दक्षिणके सूबेदार थे। दोनोंको औरङ्गजेबने अपने हाथकी कठपुतली बनाना चाहा, पर दोनों वीर उसके लाख सिर पटकने-पर भी चंगुलमें नहीं आये। अन्तमें अपने कुटिल स्वभावानुसार उसने दोनोंको विष देकर मरवा डाला। यशवन्तसिंहके सब पुत्र भी मार डाले गये, केवल एक छोटा पुत्र अजित बच गया। अजितकी माँ मेवाड़की कन्या थी। उसने राजसिंहसे पुत्रकी रक्षा चाही और राजसिंहने भी बड़े प्रेमसे अजितको अपने पास बुला लिया। औरङ्गजेबने उसी समय हिन्दुओंपर जजियाका धर्मकर लगाया। इसपर राजसिंहने औरङ्गजेबको एक कड़ा पत्र लिखकर इस अन्यायका प्रतिवाद किया। पिताके समयकी सन्धिको तोड़ना,

रूपनगरकी राजकन्यासे स्वयं विवाह कर लेना, शत्रुके पुत्र अजितको आश्रय देना और जजिया करका विरोध करना आदि कई बातोंसे औरङ्गजेब राजसिंहपर इतना बिगड़ा कि, उनका नाश करनेकी उसने पक्की ठान ली।

उसने साम्राज्यकी अगणित सेना स्थानस्थानसे बुलाकर दिल्लीमें एकत्रित की। यही नहीं, किन्तु अपने तीनों पुत्रोंको भी सेनासमेत दिल्लीमें बुला लिया। एक पुत्र अकबर बङ्गालसे, दूसरा अज़ीम काबुलसे और तीसरा सुलतान मोअज़िम दक्षिणसे युद्ध छोड़कर दिल्ली पहुंच गया। विपुल शस्त्रास्त्र तथा युद्ध-सामग्री और असंख्य सेना साथ लेकर औरङ्गजेबने छोटेसे उदयपुर-को जीतनेके लिये प्रस्थान किया। जब यह समाचार राजसिंहको विदित हुआ, तो उन्होंने भी युद्धकी तैयारी की। पहिले तो सब सेनाको उन्होंने आज्ञा दी कि, मैदानके स्थानोंको छोड़ पहाड़ोंमें चले जाओ। तदनुसार सबके चले जानेपर चुने चुनाये सैनिकोंके द्वारा उदयपुरके तीनों मुहाने रोक लिये गये। राजसिंहके जय-सिंह और भीमसिंह नामक दो पुत्र थे। एकने एक ओर दूसरेने दूसरी ओर और स्वयं राजसिंहने तीसरी ओरका अत्यन्त विकट मुहाना रोका था। उदयपुरमें जानेके ये ही तीन मुहाने थे। आदेश पाकर हर एक मुहानेपर पहिले पहाड़ोंमें भेजे हुए राजपूत वीर सशस्त्र हो आ पहुंचे और औरङ्गजेबकी मार्ग-प्रतीक्षा करने लगे। मैदानके स्थान खाली पाकर औरङ्गजेब बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने चित्तोर, मन्दसोर आदि किले अनायास हस्तगत कर, शाहजादा अकबरको ५० हजार सेनाके साथ राजसिंहको पकड़ने भेज दिया। उसे पहिले तो किसीने नहीं रोका, पर जब देखा कि, वह उदयपुरमें पहुंच गया और राजधानी खाली पाकर आनन्द मङ्गल मनाने लगा, तब उसपर एकाएक युवराज जयसिंहकी

सेना ऐसी आ टूटी कि, उसे तत्काल वहाँसे भागना पड़ा। परन्तु भागकर जाता कहाँ? तीनों मार्ग तो रुके हुए थे। अन्तमें वह शरण आया और उदारहृदय जयसिंहने उसे छोड़ दिया। यही नहीं, उसके साथ अपने मार्गदर्शक भी कर दिये।

इसी तरह औरङ्गजेब भी चारों ओरसे राजपूतों द्वारा घिर गया था और उसके साथ आई हुई उसकी प्यारी बेगम भी राजपूतोंके हाथों कैद हो गयी थी। राजपूतोंके साथ भीतर ही भीतर लड़ कर थक जानेके कारण उसने भागना चाहा, पर जिस मार्गसे वह आया था, वह मार्ग राजपूतोंने एक दो दिनोंमें ही बड़े बड़े विषैले और कटीले वृक्षोंसे रोक दिया था। इससे उसे बाहरसे भी मदद नहीं मिल सकी। लाचार हो, उसने राजसिंहसे प्राण-रक्षाकी प्रार्थना की। उदार राजसिंहने आदरके साथ उसकी बेगमको लौटाकर, उसे यह कहकर छोड़ दिया कि, मार्गमें यदि कोई गौ मिले, तो उसे नहीं मारना। प्राण-हानिके भयसे औरङ्ग-जेबने बात मान ली, पर उसका पालन नहीं किया। उसने छूटते ही हिन्दुओंपर-गो-ब्राह्मणोंपर-पुनः अत्याचार करना आरम्भ किया और दिलेरखाँके साथ अकबरको देसूरी आदि स्थानोंपर धावा करनेकी आज्ञा दी। देसूरीमें विक्रम, सोलङ्की और गोपीनाथ राठोर मोगलोंसे खूब लड़े। परिणाम यह हुआ कि, दिलेरखाँ मारा गया और अकबर भाग गया। इधर औरङ्गजेबको प्रतिज्ञा-भङ्गका दण्ड देनेके विचारसे देवीरा नामक स्थानमें प्रसिद्ध राठोर वीर दुर्गादास और राजसिंहने सेनासमेत उसे घेर लिया। औरङ्गजेबके साथ युद्धकुशल अंग्रेज गोलन्दाज थे। उनके गोले गोलियोंकी परवाह न कर उक्त दोनों वीर मोगलोंसे ऐसे लड़े कि, औरङ्गजेबको 'त्राहि त्राहि' कहते बना। राजसिंहके जीवनमें ऐसा युद्ध फिर कभी न हुआ। सम्वत् १७३७ के इस युद्धमें औरङ्गजेबके

हार जानेपर हाथी, घोड़े, तोपें, महम्मदी झण्डा, जवाहिरात, डेरे, युद्धास्त्र आदि इतनी अधिक सम्पत्ति राजसिंहके हाथ लगी, जिससे इतने दिनोंके युद्धकी क्षतिपूर्ति मय सूद दरसूदके हो गई। राजसिंह दुर्गादासके साथ विजयी होकर लौट आये।

फिरभी औरङ्गजेब चुप नहीं रहा। पुनः वह शाहजादा मुअज़िम और प्रचण्ड सेनाको लेकर चित्तोर-विजयकी आशासे आया, पर सेनापति श्यामलदासने फिर उसे हराकर अजमेरकी ओर मार भगाया। इस हारसे अधिक चिढ़कर श्यामलदाससे युद्ध करने अजीम, अकबर और खाँ रुहेलाको उसने भेजा, पर श्यामलदासजीके आगे उनकी एक न चली। असंख्य सेनाका बलिदान कर तीनों अजमेर भाग गये। इस प्रकार औरङ्गजेबको हतप्रभ कर, राजसिंहने दिग्विजय करनेका निश्चय किया। कुमार भीम गुज़रात और जयसिंह तथा मंत्री दयालदास मालवाकी ओर चल पड़े। भीमने ईडर, बड़नगर, पाहन, सिद्धपुर, भुड़ासा आदि नगरोंसे मुसलमानोंको भगा कर वहां हिन्दु राज्य स्थापन किया और दयालदासने सारङ्गपुर, देवास, माण्डू, उज्जैन, चँदेरी आदि स्थान मुसलमानोंसे छीन लिये। इस विजयसे राजसिंहका गुजरातसे लेकर सिन्धतक दबदबा जम गया। दोनों कुमारों और दयालदासने फिर शाहजादा अज़ीमको, जो चित्तौरके पास बड़ीसी सेना लेकर पड़ा था, लड़कर ऐसा भागाया कि, उसे प्राण बचाना कठिन हो गया। अन्तमें भागते पर शस्त्र उठाना अनुचित जानकर राजपूतोंने उसका पीछा छोड़ दिया।

औरङ्गजेबने चाहा कि, मारवाड़की राजमाताको कैद कर लिया जाय, जिससे वह राज्य हस्तगत हो जायगा। राजमाता मेवाड़की कन्या थी। उसने राजसिंहसे सहायता मांगी। राजसिंहने कुमार भीमको बहिनकी रक्षाके लिये भेजा। इधर मोगलोंकी
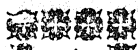
ओरसे सेनापति तहव्वरखाँ और शाहजादा अकबर आये। गनोरा नामक स्थानमें दोनों दलोंका युद्ध हुआ। इस बार भी भीमके आगे मुसलमान ठहर न सके और अपनासा मुंह लेकर चल दिये। बहुत दिनों तक लड़ते लड़ते कभी पूरी न होने वाली हानि हुई देख, अन्तमें औरङ्गजेबने राजसिंहसे सन्धि कर ली और फिर आजीवन राजसिंहसे छेड़ छाड़ नहीं की।

एक बार मेवाड़में बड़ा भारी अकाल पड़ा, तब राजसिंहने करोड़ों रुपये व्यय कर 'राजसागर' नामक छः कोसका सङ्गमरमरकी सीढ़ियोंका सुन्दर तालाब, 'राजनगर' नामक नगर, एक विशाल किला और श्रीकृष्णका देवालय बनवाया। जिससे प्रजाका अर्थ-कष्ट तथा जल-कष्ट दूर हुआ और थोड़े ही दिनोंमें उजड़ा हुआ मेवाड़ पुनः हरा भरा हो गया। राजसिंह जैसे वीर, वैसे ही प्रजा-पालनमें दयालु, धार्मिक और राजनीतिज्ञ थे। उनके राजत्व कालमें कभी प्रजाने दुःख नहीं देखा।

आजन्म युद्ध करते करते राजसिंहके शरीरमें बहुत घाव हो जानेके कारण उन्हें जीवनकी आशा नहीं रही थी। अहर्निश घावों-की पीड़ासे वे व्याकुल रहते थे। साथ ही साथ मेवाड़की भावी सुरक्षाकी भी उन्हें चिन्ता लग रही थी। इसका कारण यह था कि, भीमसिंहके ज्येष्ठ पुत्र होनेपर भी जयसिंह अपनेको युवराज और राज्यका उत्तराधिकारी समझते थे। राजसिंहने सोचा, यदि मैं जीते जी इसका प्रबन्ध न कर लूँ, तो मेरे पश्चात् दोनों भाई आपसमें ही लड़ेंगे, जिससे प्रजा दुःखमें पड़ जायगी और बहुत दिनोंकी खोई हुई मेवाड़की स्वाधीनता, जो इतने कष्टोंसे प्राप्त हुई है, सो भी नष्ट हो जायगी। सोच विचार कर एक दिन उन्होंने भीमको बुला, अपनी तलवार उसे दे, कहा,—"बेटा! इस तलवारसे अभी तू जयसिंहको मार डाल। नहीं तो वह मेरे पीछे तुझसे वैर

कर व्यर्थ प्रजाका नाश करेगा ।" भीमसिंह अवाक् हो गये। फिर थोड़ा विचार कर पिताके चरणोंपर हाथ रखकर वे बोले,—"पिताजी! आजसे मैंने अपने सब अधिकार प्यारे जयसिंह-को आनन्दसे दे दिये। वह प्रसन्नतासे राज्य करे, मैं आज पीछे मेवाड़में पानी नहीं पीऊँगा, आप निश्चिन्त होकर भगवान्में लौ लगावें।" राजसिंहने भीमको हृदयसे लगा लिया। भीम पिताका आशीर्वाद पाकर मेवाड़से विदा हुए। थोड़े ही दिनोंमें राज-सिंहका देहावसान हुआ और भीम भी काबुलकी एक लड़ाईमें काम आये। पर पिता-पुत्र दोनों प्रजावात्सल्य और स्वार्थत्यागके उदाहरण इतिहासोंमें रख गये।

वीरवर दुर्गादास राठोर ।

राजपूतानेमें शिशोदिया वंशधरोंकी तरह राठोर वंशके राजा भी बड़े प्रतापी हुए। शिशोदिया मेवाड़ और राठोर मारवाड़के बहुत पुराने अधिपति हैं। महाराजा जोधाने जोधपुर बसाया, तबसे राठोरोंकी प्रधान राजधानी जोधपुर हुई। ईसाकी सोलहवीं सदीके अन्तमें—जब कि, बाबर दिल्लीश्वर था—मेवाड़के राणा और दिलीश्वरके बीच महान् संघर्ष चल रहा था। दोनों दलोंमें वर्षों लगातार युद्ध होता रहा, इससे मुसलमानोंकी दृष्टि मारवाड़पर नहीं पड़ी। इस सुअवसरसे लाभ उठाकर माल-देव राठोरने अजमेरसे लेकर दिल्ली प्रान्तकी सीमातक अपने राज्यका विस्तार कर लिया था। फिर भी राठोर वीर शिशो-दियोंको बराबर सहायता करते और एक दूसरेसे बन्धु-भावका बरताव रखते थे। दोनों कुलोंमें कन्या सम्बन्ध भी बहुत हुए।

मालदेवके पश्चात् गजसिंह, अमरसिंह आदि मारवाड़के अनेक वीर नृपति हुए, जिन्होंने स्वदेशकी स्वातन्त्र्य-रक्षाके लिये प्राणपणसे चेष्टा कर अपने कुलकी कीर्तिको विमल किया था। गजसिंहके कनिष्ठ पुत्र यशवन्तसिंह–जिनका उल्लेख राजसिंहके चरित्रमें किया गया है—जब सन्तान सहित औरङ्गजेबके द्वारा कुटिलतासे मारे गये, तब उनकी रानी गर्भवती थीं। उन्हें जो पुत्र हुआ, वही राजसिंहके चरित्रमें उल्लिखित अजित था। अजितकी माता इतनी तेजस्विनी थीं कि, एक बार शत्रुओंसे हारकर आये हुए पति यशवन्तसिंहको उन्होंने महलमें नहीं घुसने दिया और कहला भेजा कि, मेवाड़की कन्या पराजित पतिका मुखावलोकन नहीं कर सकती। दूसरी बार यशवन्तसिंह जीत कर आये, तभी वह उनसे मिली। पतिकी मृत्युके पश्चात् सब रानियोंके सती होनेपर भी गर्भवती होनेके कारण वह सती न हो सकी। काबुलके पास सीमा प्रदेशमें कहाँ यशवन्तसिंहकी मृत्यु और अजितका जन्म होनेके उपरान्त कुछ राठोर वीर रानी और अजितको बड़ी वीरता और चतुरतासे जोधपुर ले आये, उन्हींमें अग्रगण्य दुर्गादास थे।

सीमा प्रदेशसे जोधपुर दिल्ली होकर आना पड़ता है। उक्त लोगोंके दिल्ली पहुँचते ही उन्हें औरङ्गजेबने रोक लिया। सब राठोर वीरोंके दरबारमें पहुंचनेपर औरङ्गजेबने कहा,—"यदि तुम कुमार अजितको हमें दे दोगे, तो मैं तुम्हें मारवाड़का राज्य बाँट दूँगा।" सब राठोर सरदार इस वचनको सुनते ही आग बबूला होकर दरबारसे उठ गये और प्राण रहते मुसलमानोंसे लड़कर अजितको बचानेका उन्होंने सङ्कल्प कर लिया। प्रथम उन्होंने सब स्त्रियोंको बारूदभरी एक कोठड़ीमें बैठाकर उसमें आग लगा दी। सब रानियाँ और स्त्रियाँ एक क्षणमें जलकर भस्म हो गयीं। केवल अजितकी माता अजितकी रक्षाके लिये बचा ली गई। अब निश्चिन्त

हो, सब राठोर वीर मुसलमानोंसे उलझ पड़े। लड़ाई छेड़ते समय वीरदर्पसे भरे हुए दुर्गादास बोले,—"मुसलमान राठोरोंकी वीरतासे अभीतक अपरिचित हैं, यही एक आश्चर्य्य है! जिन वीरोंके बलपर आज महम्मदी सिंहासन स्थिर है, उनकी विश्वासघातसे हत्या कर, एक अबोध बच्चेको भी जीता नहीं छोड़ना चाहता, ऐसे कृतघ्न राजाको धिःकार है। ठीक है, हम क्षत्रिय हैं। रणसे विमुख होना हमारा धर्म नहीं है। आज यवनगण देखें कि, राजपूत वीरोंकी झनकार करती हुई तलवारोंकी चिनगारियोंसे दिल्ली कैसी भस्म होती है।" वास्तवमें दिल्लीमें उस दिन ऐसा युद्ध हुआ कि, सर्वत्र हाहाकार सुनायी देने लगा।

सम्वत् १७३६ के इस युद्धमें यद्यपि मुसलमानोंकी बहुत हानि हुई, तथापि सब राठोर वीर भी मारे गये। केवल दुर्गादास बच गये, जो यवनसेनाको चीरते हुए अजित और उसकी माताको लेकर सबके देखते देखते दिल्लीसे चले गये। मुसलमानोंने बहुत पीछा किया, परन्तु उनका किसीको पता न चला। वे अजित और उसकी माताके साथ आबू पर्वतकी किसी खोहमें जा छिपे। क्रमशः इनका पता राठोरोंको लग गया। उन्हें अपने राजाका एक पुत्र जीवित है, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। सब मिलकर दुर्गादास, रानी और अजितको बड़े ठाठसे जोधपुर ले आये। नये राज्यकी अव्यवस्था देख, पड़िहार राजपूतोंने औरङ्गजेबकी सहायतासे जोधपुरपर चढ़ाई की; परन्तु जोधपुर पड़िहारोंके हाथ जानेपर एक दो दिनोंमें ही राठोरोंने उनसे लड़कर छीन लिया। औरङ्गजेबको इसका पता लगनेपर वह स्वयं बड़ी भारी सेना लेकर आया और थोड़े ही दिनोंमें मारवाड़पर उसने अपना अधिकार कर लिया। इस सङ्कटके समयमें भी दुर्गादासने ही रानीका सँदेशा महाराणा राजसिंहसे कहा था और राजसिंहने रानीसहित

अजितको अपने पास बुला लिया था। इसका उल्लेख राजसिंहके चरित्रमें किया जा चुका है।

खीची सरदार शिवसिंह और मुकुन्ददासकी देखभालमें अजितको राजसिंहके पास रख, मारवाड़के उद्धारके लिये दुर्गादास चले गये। सिवाना, जोधपुर आदि स्थानोंमें मुसलमानोंके साथ चार वर्षोंतक उन्होंने लगातार युद्ध किया। कई बार दोनों दलोंकी हार-जीत हुई। अन्तमें दुर्गादासके साथी सोनग सरदारने औरङ्गजेबको ऐसा हराया कि, उसे तुरन्त राठोरोंके साथ सन्धि कर लेनी पड़ी। दुर्गादास, रामसिंह, फतेहसिंह आदि वीरोंने औरङ्गजेबके अन्य सेनापतियोंको मार डाला और मारवाड़ स्वाधीन बना लिया। दक्षिणका कुछ भाग मुसलमानोंके हाथमें था, उसे छुड़ानेके लिये दुर्गादास उधर चले गये। इधर राठोरोंको अजितका राज्यारोहणोत्सव करनेकी प्रबल इच्छा हुई। उन्होंने मुकुन्ददाससे कहा कि, अजितको हमें देदो, हम अपनी इच्छा पूरी करें। मुकुन्ददास बोले—"दुर्गादास जबतक न कहें, हम अजितको नहीं दे सकते।" बहुत विश्वास दिलानेपर मुकुन्ददासने सम्वत् १७४३ में अजितको प्रकट किया। प्रथम कोटाके हाड़ा महाराजने दो सहस्र राजपूतोंके साथ आकर नये मारवाड़के महाराजाको अभिवादन किया। तत्पश्चात् अन्य नृपतियों और सामन्तोंने उपायन भेंट दिये। स्थान स्थानके नरेशोंसे सत्कार पाते हुए अजित जोधपुर पहुंचे। उसी समय दक्षिणसे विजयी होकर दुर्गादास भी आ गये। सबने मिलकर बड़े उत्साह और ठाठसे उसी वर्ष अजितको राज्याभिषेक किया। महीनों मारवाड़में आनन्दोत्सव होते रहे। बहुत दिनोंका दुःखी मारवाड़ दुर्गादासके प्रतापसे आज सुखी हुआ।

इधर ज्यों ज्यों राठोरोंका उत्कर्ष होता, उधर त्यों त्यों औरङ्गजेब मनही मन जल भुनकर खाक हो जाता था। प्रथम इनायत खाँ

और फिर सुजायत खाँके सेनापतित्वमें मारवाड़ पर उसने बड़ी बड़ी सेनाएँ भेजीं, पर दुर्गादासके आगे किसीकी दाल न गली। दुर्गादासने केवल उन्हीं सेनाओंको नहीं हराया, किन्तु अजमेरके सूबेदार सफ़ी खाँको भी मार भगाया। इन पराजयोंसे औरङ्गजेब बहुत ही चिढ़ा। सफ़ीखाँ प्रचण्ड वीर होनेके कारण उसके हारनेकी उसे आशा नहीं थी। क्रुद्ध हो, उसने सफ़ीखाँको लिखा,-"यदि तुम दुर्गादासको जीत लो, तो तुम्हारा पद बढ़ा दिया जायगा और यदि उससे हार गये, तो तुम्हारी सब सम्पत्ति और अधिकार छीन लिये जायँगे।" इस चिट्ठीसे विपत्तिमें पड़े हुए सफ़ीखांने सोचा कि, लड़कर राठोरोंसे पार पाना सम्भव नहीं है, कुटिल नीतिसे ही काम लेना चाहिये। तदनुसार उसने अजितको पत्र लिखा,—"बादशाहने आपका राज्य लौटा देनेकी सनद मेरे पास भेजी है, सो आप आकर ले जाइये।" दुर्गादासने सफीखाँकी चाल ताड़ ली। उनके परामर्शानुसार अजित २० सहस्र सेनाके साथ सनद लेने गये। उनको देखते ही सफीखाँके मुँहका पानी सूख गया। उससे और तो कुछ करते न बना, तुरन्त उसने अजितकी अधीनता स्वीकार करली। उसको भय दिखानेके लिये अजितने कहा,— "चलिये, हम लोग इस विजयके उपलक्ष्यमें अजमेरको जला डालें।" इस वचनसे सफीखाँ बहुत ही डरा। उसने अजितको विपुल धन दे, किसी प्रकार समझा बुझाकर बिदा किया।

अजितका विवाह महाराणाकी भतीजीसे हुआ था। विवाहके पश्चात् मुकुन्ददास, दुर्गादास, उनके पुत्र और अजितने लड़कर धीरे धीरे अपने वे सब नगर मुसलमानोंसे लौटा लिये, जो पहिले पराधीनतामें पड़े थे। बादशाहसे जज़िया कर अजितने दुर्गादासके परामर्शसे ही उठवाया था। औरङ्गजेबके मरने पर बहादुर शाहने अजित और आमेर नरेश जयसिंहको धोखेसे कैद कर लिया। उस

समय दुर्गादासकी चातुरीसे ही दोनों कैदसे निकल भागे थे। अजितका राज्य निष्कण्टक हुआ देख, दुर्गादासको कैसा आनन्द हुआ होगा, उसका वर्णन नहीं हो सकता। अनेक युद्ध कर मारवाड़ स्वाधीन होनेपर जब अजितके हाथ अजमेर नगर भी आगया, तब दुर्गादासने अजितके नामके सिक्के चला दिये।

एक बार औरङ्गजेबके पुत्र अकबरको दुर्गादासने कैद कर लिया था। उसे छुड़ानेके लिये औरङ्गजेबने ४० हज़ार मोहरें भेजीं और शरणागत सूचक पत्र लिखा। 'शरण' इस शब्दको पढ़ते ही वज्रके समान हृदयवाले दुर्गादास नवनीतके समान कोमल हृदयवाले हो गये। वास्तवमें सच्चे क्षत्रियोंकी यह सबसे उत्तम पहिचान है कि, वे शरणागतकी रक्षा करनेसे बढ़कर संसारमें कोई महत्त्वका पुरुषार्थ नहीं समझते। इसके लिये वे प्राण भी विसर्जन कर देते हैं। इसी क्षात्रधर्मके अनुसार वीरवर दुर्गादासने अकबरको छोड़ दिया और ४० सहस्र मोहरें भी उसे लौटा दीं।

इसी तरह एक बार दुर्गादासके हाथ अकबरकी लड़की आगयी थी। उसे छुड़ानेके लिये औरङ्गजेबने दुर्गादासको पत्र लिखा,—"यदि तुम लड़कीको छोड़ दो, तो मैं अजितको उसका राज्य लौटा दूंगा और तुम्हें पांच हजारी मनसबदारी दूंगा।" दुर्गादासने उत्तर लिखा,—"अजितकी स्वाधीनता किसीकी दयापर अवलम्बित नहीं है। उसका राज्य लौटा लेनेके लिये उसकी तलवारकी सहायता पर्याप्त है। मुझे आपकी मनसबदारी नहीं चाहिये। यदि आपको कुछ देनाही है, तो जालौर, सिवाँची और घिरादा अजितको लौटादें।" पत्रके साथ ही दुर्गादासने अकबरकी लड़कीको औरङ्गजेबके पास भेज दिया और उक्त नगर मारवाड़में मिला लिये। दुर्गादास जब तक जीवित थे, बराबर अजितकी श्रीवृद्धि करते रहे। उन्हींके पुरुषार्थसे मारवाड़ राज्यकी रक्षा हुई थी।

लिखते दुःख होता है कि, ऐसे स्वार्थत्यागी महापुरुषके प्रति चाटुकारोंके कान भरनेसे उनके उत्तर वयसमें अजित साशंक रहा करते थे, जिससे दुर्गादास बहुत ही दुःखित हुए। इसी दुःखके आघातसे संवत १७७५ के लगभग उनका देहावसान हो गया। उनके देहान्तसे अजितको भी पिताके मरणके समान दुःख हुआ, पर पीछे पछतानेसे लाभ ही क्या? पश्चात्तापसे परितप्त हो, अजितका भी भी संवत् १७८० में देहान्त हो गया। मारवाड़के गगनका एक उज्वल तारा अदृश्य हो गया! मारवाड़ी प्रजाके अन्तःकरण दुःखके अन्धकारमें डूब गये। यह सब कुछ होनेपर भी दुर्गादास-के त्याग और स्वामिभक्तिका सूर्य जब तक चन्द्र सूर्य हैं, तब तक चमकता रहेगा। यदि वे अजितको औरङ्गजेबके अधीन कर देते, तो निःसन्देह बड़े पदपर पहुंचते। पर उन्होंने अपने चरित्रसे सिद्ध कर दिया कि, त्यागके सम्मुख सङ्ग्रहकी प्रतिष्ठा तृणसे अधिक गौरवकी नहीं हो सकती।

सम्राट् पृथ्वराज चौहान।

सती चरित्र चन्द्रिकामें सती संयोगिताका जीवनचरित्र प्रकाशित हुआ है। संयोगिताके तो पृथ्वीराज स्वामी थे ही, किन्तु भारतभूमिके भी स्वामी थे और ये ही ऐति-हासिक युगमें अन्तिम राजपूत सम्राट् हुए। घरकी फूट या भाई-भाईयोंमें कलह होनेसे ही अपने देशका सर्वनाश हुआ है। जयचन्द और पृथ्वीराजमें निरन्तर खटपट बनी रहती थी। अन्तमें पृथ्वी-

राजका नाश करनेके लिये महम्मदगोरीसे जयचन्दने सहायता ली। यद्यपि पृथ्वीराज असाधारण वीर पुरुष थे, उन्होंने सैंकड़ों युद्धोंमें शत्रुओंके दांत खट्टे किये थे, तथापि दुर्भाग्यवश उन्हें गोरीके हाथों बद्ध होना पड़ा। गोरीने बड़ी निर्दयताका उनके साथ बर्ताव किया, जो वीर पुरुषोंके योग्य कदापि कहा नहीं जा सकता। महाकवि और पृथ्वीराजके मित्र चन्दबरदाईसे उनका दुःख नहीं देखा गया। उसने गोरीको पृथीवीराजके द्वारा जिस कौशलसे मरवा डाला, वह वास्तवमें आश्चर्यजनक है। पृथ्वीराजका शर-कौशल और चन्दकी चातुरी दोनों संसारमें अतुलनीय होनेके कारण उनका यहां उल्लेख किया जाता है।

पृथ्वीराजकी दोनों आंखें फोड़ दी थीं और सौ मनकी लोहेकी जंजीर उनके गलेमें पहिनाकर तथा हाथ पैर बाँधकर उन्हें गोरीने अपने बन्दीगृहमें रक्खा था। पृथ्वीराजको अपना बनाया ग्रन्थ 'रासो' सुनानेका बहाना कर ग़ोरीसे चन्दने पृथ्वीराजसे मिलनेकी आज्ञा लेली थी। बन्दीगृहमें चन्दके आनेका समाचार सुनते ही अत्यन्त अशक्त हो जानेपर भी, पृथ्वीराज एकदम उठे और चन्दसे गले लगकर मिले। इतनी अशक्तताकी अवस्थामें सौ मनकी जंज़ीर पहिने हुए पृथ्वीराज उठकर खड़े हो सके, यह समाचार दूतों द्वारा पाकर गोरीने आज्ञा दी कि, इससे दुगने वजनकी जंज़ीर उनके गलेमें डाल दी जाय। चन्दने गोरीसे मिलकर इस आज्ञाका प्रतिवाद करते हुए कहा,—"आप जैसे वीर पुरुषको इस प्रकारकी निर्दयता एक सम्राट्के प्रति नहीं करनी चाहिये। विपत्तिमें फँसकर पृथ्वीराज दुर्बल हो गये हैं, परन्तु उनमें युद्धविद्याके इतने गुण भरे हैं, जिन्हें आप लोगोंको सीख लेना चाहिये। आप सीखना न चाहें, तो कमसे कम उन गुणोंको देख तो लें। सौ सौ मन लोहेके सात तवे पृथ्वीराज एक ही बाणसे छेद सकते हैं। कुछ

दिन उन्हें अच्छा खाना दीजिये और उनके शरीरमें थोड़ा बल आने-पर यह चमत्कार देखिये।" गोरीने चन्दकी बात मान ली।

पृथ्वीराजको अच्छा भोजन दिया जाने लगा। थोड़े ही दिनोंमें उनकी देहमें कुछ शक्ति आगयी। एक दिन उनका शर-कौशल देखनेके लिये निश्चित हुआ। विशाल आंगनमें बीचोंबीच सौ मनकी जंज़ीर पहिनाकर अन्ध पृथ्वीराज खड़े किये गये। उनके सामने लोहेके सात तवे रक्खे गये। पीछे एक ऊँचे सिंहासनपर गोरी बैठा। दाहिनी ओर चन्द खड़े हुए और सहस्रों नागरिक चारों ओर घिर गये। गोरी 'शाबास' कहें, उसी समय पृथ्वीराज बाण चलावें, यह स्थिर हुआ।

कई धनुष्य उन्हें दिये गये। प्रत्येक धनुष्य टूटता गया। अन्तमें उनका खास धनुष्य उन्हें दिया गया। प्रत्यञ्चा चढ़ाकर और बाण लगाकर वीरभावसे खड़े हो, पृथ्वीराज गोरीके शब्दकी राह देखने लगे। इसी समय चन्दने एक कविता सुनायी, जिसका आशय यह था,—"चार बाँस, चौबीस गज और आठ अङ्गुलपर हे चौहान! सुलतान बैठा है। यह चूकनेका समय नहीं है। हे चौहान! जिस बाणसे रामचन्द्रने रावणको, अर्जुनने कर्णको, शंकरने त्रिपुरासुरको और लक्ष्मणने भ्रमरको वेधा था, वह बाण आज़ तुम्हारे हाथमें है। इसका ठीक निशाना लगाकर अपने यश-का विस्तार करो।" कविता समाप्त होते ही गोरीके 'शाबास' कहनेकी ध्वनि उन्हें सुनायी दी। पृथ्वीराज शब्द वेधी बाण चलाना जानते थे। तुरन्त मुँह फेरकर उन्होंने ऐसा बाण चलाया, जिससे गोरीका शिर गेंदकी तरह धड़से कटकर दूर जा गिरा।

लोग कौतुक देखने एकत्र हुए थे। बादशाहके वधसे कौतुक-के बदले दरबारमें भयङ्करता छा गई। सब भर हाहाकार सुनायी देने लगा। बहुतसे मुसलमान वीर पृथ्वीराज और चन्दको

पकड़नेके लिये दौड़े। यदि दोनों बाँध लिये जाते, तो उनपर जैसे कुछ अत्याचार होते, उनकी कल्पना नहीं की जा सकती। परन्तु फुर्तीसे चन्दने पृथ्वीराजको एक तलवार दी और एक अपने हाथमें लेली। दोनोंने एक दूसरेके गलेपर ऐसा वार किया कि, दोनोंके शिर कट गये। चन्दने मित्रधर्म पालन किया। पृथ्वीराजकी वीरता और गोरीकी निर्दयताकी कथाएँ देशभरमें फैल गयीं। संयोगिता सती हुई। हिन्दुओंका साम्राज्य नष्ट हुआ। भारतमाताके दुर्दिन आरम्भ हुए। इतना होनेपर भी हिन्दुमाताके सच्चे सुपूतोंने अपना निर्मल चरित्र लवमात्र कलङ्कित नहीं होने दिया। सच्चे मित्र चन्दका 'रासो' उस समयका समाज चित्र अभीतक सहृदय पाठकोंके हृदयमन्दिरोंमें नूतनके समान खींच देता है। जिनके हृदयमें स्वाधीनताका भाव भरा होता है, वे मरकर भी अमर बन जाते हैं।

छत्रपति श्रीशिवाजी महाराज।

प्राचीन कालमें सूर्य और चन्द्रवंशीय राजाओंकी शाखाएँ समग्र भारतवर्षमें फैल गयी थीं। राजपूताना प्रान्तमें जब प्रसिद्ध शिशोदिया राजपूतोंके राज्य स्थापित नहीं हुए थे, तब उनके पूर्वज बाप्पा रावल दक्षिण-पश्चिम भारतमें रहा करते थे। मौर्यवंशीय मातुल द्वारा मेवाड़का राज्य पानेपर बाप्पाजीके कुलमें कुम्भ, हमीर, प्रताप आदि अनेक पुण्यश्लोक राजा हुए। उन्हींमें राणा लक्ष्मणसिंह भी थे। पिता-पुत्रों और भाई-भाइयोंमें कुछ कहा सुनी होनेके कारण वे मेवाड़से पुनः दक्षिणमें चले गये। उन्हींके वंशधरोंमें प्रतापी राजा शाहजी उत्पन्न हुए। "सती चरित्र-

चन्द्रिका" में "राजमाता जीजाबाई" के चरित्रमें शाहजीके पूर्व चरित्रका साधारण उल्लेख हो जानेके कारण यहाँ उसका विस्तृत वर्णन न कर, केवल इतना ही कह देना पर्याप्त समझा जाता है कि, वे स्वयं दरिद्रावस्थासे उन्नत होते हुए 'राजा' तो बने हीथे, किन्तु 'नृपनिर्माता' (King maker) भी थे। मुसलमानोंके राजत्व-कालमें शाहजीकी तो इतनी शक्ति बढ़ गयी थी कि, वे चाहे जब चाहे जिसको राजासे रंक और रंकसे राजा बना देते थे। प्रथम उन्होंने निज़ामके यहां साधारण नौकरी कर धीरे धीरे समस्त निजामशाहीकी बागडोर अपने हाथमें ले ली थी। उत्तर भारतमें पठानोंका राज्य नष्ट होनेपर भी दक्षिणमें पठानों, सिद्दियों और लोदियोंके राज्य थे ही। इनका नाश करनेमें अकबर, शाहजहां और औरंगजेबने कोई बात उठा न रक्खी। मुसलमानोंके इस अंतःकलहसे मराठोंकी बन आय। कभी इधर कभी उधर मिल-कर वे अपनी शक्ति बढ़ाने लगे और क्रमशः उन्होंने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापन कर लिया।

दो तीन पीढ़ियों तक शाहजीने निजामके राज्यकी राजनीति-चातुरीसे तथा अनेक युद्ध कर अच्छी रक्षा की। एक वार तो 'मूर्तिजा' नामक अल्पवयस्क बालकको राज्यासनपर बैठाकर शाहजीने उसकी ओरसे ऐसा उत्तमतासे राज्यशकट हाँका कि, निजामके राज्यकी ओर आँख उठाकर देखनेकी किसीको हिम्मत नहीं होती थी। दिल्लीसे जो जो सेनानायक निजामशाहीको हरण करने आये, वे शाहजीके हाथों कैद हुए या मारे गये। अन्तमें जब स्वयं शाहजहाँ विशाल सेना लेकर निजामसे लड़ने आया, तब शाहजीको हार जाना पड़ा। निजामशाही नष्ट हुई। शाहजीको शाहजहाँने युद्धके पराक्रमसे प्रसन्न हो, कर्नाटकमें बड़ी भारी जागीर दी। शाहजी शाहजहांके माण्डलीक हुए। परन्तु शाह-

जहांने थोड़े ही दिनोंमें उनके ज़ागीरका कुछ भाग फतेहखाँ नामक एक सरदारको दे दिया। इस विश्वासघातसे असन्तुष्ट हो, शाहजी ने बिजापुरके सुलतानका आश्रय लिया और शाहजहांसे सम्बन्ध तोड़ दिया। तबसे अन्ततक शाहजी बिजापुर दरबारकी ही सेवा करते थे। बिजापुर नरेशने शाहजीको कर्नाटकका कुछ प्रान्त और पूना-सूपा परगना ज़ागीरकी तौरपर दे रक्खा था। शाहजीके संभाजी, शिवाजी और व्यंकोजी नामक तीन पुत्र थे। संभाजी तो २४ वर्षोंकी अवस्थामें एक लड़ाईमें काम आगये। व्यंकोजी कर्नाटक और बाल शिवाजी और अपने गुरु दादोजी तथा माता जीजाबाईके साथ रहकर पूनेकी ज़ागीरका काम देखा करते थे। स्वयं शाहजी दरबारमें रहते थे। हमारे चरित्र-नायक शिवाजीका जन्म शिवनेरी नामक दुर्गमें १० अप्रेल १६२७ को हुआ था।

जीजाबाई और दादोजीने शिवाजीको सब प्रकार सुशिक्षित करनेमें अपनी पूरी शक्ति लगा दी। १३-१४ वर्षोंकी अवस्थामें ही शिवाजी धर्म, राजनीति, शस्त्र-सञ्चालन, अश्वारोहण, राज्य-प्रबन्ध आदिमें निपुण हो गये। वे अपनी ज़ागीरकी आप व्यवस्था करने लगे। सन् १६४० में शिवाजीका विवाह निंबालकरकी कन्या सईबाईके साथ होनेपर उनकी प्रशंसा सुन, कुछ दिनोंके लिये जीजा और पुत्रवधू सहित शिवाजीको शाहजीने बिजापुर बुला लिया। शिवाजी दरबारमें जाने आने लगे। उनकी तेजस्विताको देख, सुलतान भी उनपर बहुत प्रसन्न था। परन्तु उन्होंने बादशाहको कभी झुककर सलाम नहीं किया। एक दिन शिवाजीने मार्गमें गोमांस बिकते देखा। इससे वे दरबारमें उदास और क्रुद्ध होकर जा बैठे। बादशाहके उदासीनताका कारण पूछनेपर शिवाजीने स्पष्ट कहा कि, हम हिन्दु लोग जीतेजी अपनी आँखोंसे गोमांस नहीं देख सकते; परन्तु आपके राज्यमें—जो हिन्दुओंके बलपर स्थित है—सर्वत्र

गोमांस बिकता देख, इस समय मैं चिन्ता कर रहा हूं कि, इसके रोकनेका क्या उपाय करना चाहिये। शिवाजीकी अशान्तिजनक वाणी सुन, बादशाहने आज्ञा दी कि, राज्यमें गोहत्या न हो, न गोमांस बिके। परन्तु इस आज्ञाका विशेषरूपसे मुसलमानोंके दुराग्रहसे पालन नहीं होता देख, एक दिन शिवाजीने एक कसाई-को मार डाला। सुलतान इससे कुछ रुष्ट हुआ सही, पर उसने पुनः आज्ञा प्रचारित की कि, जो कोई गोवध करेगा, उसे कठिन दण्ड दिया जायगा। इससे मुसलमानोंमें बहुत खलबली मची। शिवाजीको वे शत्रु समझने लगे, पर शाहजीका राज्यमें होना आवश्यक जान, सुलतानने उस ओर ध्यान नहीं दिया। यही नहीं, किन्तु सरदार सिर्केकी कन्या सोयराबाईके साथ अपने व्ययसे बड़े समारोहके साथ सुलतानने शिवाजीका दूसरा विवाह कर दिया।

सुलतानकी इतनी कृपा होनेपर भी शिवाजी मुसलमानोंके विरुद्ध आचरण किया ही करते थे। पिताने बहुत समझाया, पर शिवाजीने यही उत्तर दिया कि, यवनोंके अत्याचार मुझसे नहीं सहे जाते। यदि आप उचित समझें, तो मुझे पूने लौटा दें। न मैं कुछ आँखोंसे देखूँगा, न मुझसे विरुद्धाचरण होगा। शाहजी इस परामर्शसे सहमत हुए। शिवाजी माता और दोनों स्त्रियोंको साथ लेकर पूना चले आये। वहां पहुंचकर स्वधर्मरक्षण और स्वदेशोद्धारका उन्होंने सङ्कल्प किया। सह्याद्रि पर्वतका सब प्रदेश देख और मावले लोगोंको एकत्र कर स्वतन्त्र राज्य स्थापन करनेका उन्होंने उपक्रम किया। एक दिन जीजा प्रातःकालके समय शिवपूजन करती थीं। नित्य नियमके अनुसार शिवाजी उनके दर्शनको गये। कमरेमें अँधेरा था, शिवाजी खिड़की खोलने लगे, परन्तु जीजाने उन्हें सङ्केत कर रोक दिया। पूजा समाप्त होनेपर जीजासे शिवाजीने खिड़की न खोलनेका कारण पूछा।

जीजा बोली,—"इस खिड़कीके सामने तोरणा किला है। उसपर फड़कती हुई यवनोंकी ध्वजा पूजाके समय मेरी आंखोंमें खटकती है।" माताके इस वचनसे शिवाजीके हृदयपर भी आघात हुआ। उसी समय माताके चरणोंपर हाथ रख, उन्होंने प्रतिज्ञा की,—"जबतक इस किलेपर मैं अपना झण्डा नहीं गाड़ूँगा, तबतक अन्न ग्रहण नहीं करूँगा।" तुरन्त वे तानाजी आदि कुल साथियोंको ले, तोरणा किलेपर चढ़ गये और अनेक युक्तियोंसे उसे हस्तगत कर लिया। जब उन्होंने किलेपर अपनी लाल पताका फहराई, तभी अन्न ग्रहण किया और तभी अपने हाथों जीजाके कमरेकी खिड़की खोली। उस किलेमें बहुतसी सम्पत्ति शिवाजीके हाथ लगी। जिससे उन्होंने गोला बारूद अस्त्र-शस्त्र आदि विपुल युद्धसामग्री एकत्र की और मावलाओंकी एक अच्छी सेना सङ्गठित करली। कुल देवता भवानीकी कृपासे इसी समयसे शिवाजीके उत्कर्षका आरम्भ हुआ। शिवाजीने 'चाकण' नामक किला फिरंगोजीसे लेलिया और उसको वहांका किलेदार बनाया। 'कोंडाणा' किला मुसलमानोंसे खरीदकर उसका नाम आगे चल कर 'सिंहगढ़' रक्खा। नीलकण्ठ नाईकसे 'पुरन्दर' किला लिया और बदलेमें उसके तीनों पुत्रोंको जागीरें देदीं। सन् १६४८ में विजापुरका खजाना लूटकर शिवाजीने बहुतसी सम्पत्ति हस्तगत की और मुसलमान सरदार मुल्लानासे लड़कर तिकोना, लोहगढ़ आदि आठ किले छीन लिये। इससे कल्याण परगनेपर उनका अधिकार हो गया। जंजिरा नामक समुद्र तटके बन्दरपर हबसी लोगोंने अधिकार कर रक्खा था। उनसे युद्धकर शिवाजीने जंजिरा, तलें, घोसालें, रायरी आदि किले अपने अधिकारमें कर लिये। उसी समय बिरवाड़ीमें रायरी पर्वतपर एक नया किला बनवाया। इस किलेका नाम 'रायगढ़' रक्खा

गया। इस प्रकार देखते देखते शिवाजीने अपने जीवनमें २८० किले हस्तगत किये और ६ नये बनवाये तथा उनका सुप्रबन्ध भी कर दिया। रायगढ़ लेनेपर राजापुर प्रान्त उन्होंने जीता और हरिहरक्षेत्रके सावन्तसे एक बहुमूल्य तलवार तीन सौ होन (सोनेका सिक्का) देकर ख़रीदी। उसीका नाम 'भवानी' रक्खा। इसकी आजीवन वे पूजा करते थे और इसीके प्रतापसे विजयी होते गये। कहते हैं, इस समय वह तलवार लण्डनके ब्रिटिशम्यूजियममें आदरके साथ रक्खी गयी है।

शाहजीकी वीरतासे कर्नाटक प्रान्त विजापुरके अधीन हो गया था और इधर शिवाजी दक्षिण-पश्चिम प्रान्तका बहुतसा भूमिभाग और अनेक किले विजापुरके सूबेदारोंसे छीन रहे थे। एक ओर राज्यविस्तार और दूसरी ओर राज्य-ह्रास होता हुआ देख, सुलतान शाहजीपर बहुत रुष्ट हुआ। उसने शाहजीको कैद कर सँदेशा भेजा कि, यदि तुम अपने पुत्रका उचित प्रबन्ध न कर सको, तो मैं तुम्हें दीवारमें चुनवा दूँगा। शाहजी निरपराध थे, परन्तु करते क्या? जिसकी लाठी उसकी भैंस! पितृ-बन्धनकी वार्ता सुनकर शिवाजी उनके छुटकारेका उपाय सोचने लगे। मोगल बादशाह शाहजहां विजापुरका बैरी था ही, शिवाजीने उसके पास एक पत्र भेजा। उसमें लिखा था,—"यदि आप हमें मदद दें, तो हम बिजापुरका तहस नहस कर देंगे और आपकी ही सेवा करते रहेंगे। परन्तु प्रथम पिताकी मुक्तता होनी चाहिये।" शाहजीने मोगलोंसे लड़कर कई बार प्रताप दिखाया था और शिवाजीकी कीर्ति भी शाहजहाँ सुन चुका था। ये प्रतापी पिता-पुत्र अपने अधीन हो जायं तो दक्षिणमें मोगल राज्य स्थापित होना असम्भव न जानकर शाहजहाँने बिजापुरके सुलतानको आज्ञा दी कि, शाहजीको तुरन्त छोड़ दिया जाय। बलाढ्य सम्राट्से-मराठे उनके अनुकूल होते

हुए—लड़ना सुलतानने अनुचित समझा। शाहजी छोड़ दिये गये। शिवाजीको शाहजहांकी ओरसे ५ हज़ारी मनसबदारी मिली। वह उन्होंने स्वयं न लेकर अपने पुत्र संभाजीके नाम कर दी। मोगलोंकी सहायता पाकर अब शिवाजी विजापुरके साथ खुल्लम-खुल्ला लड़ने और यवन सरदारोंके दांत खट्टे करने लगे। विजापुर दरबारने शाहजीको कर्नाटकमें भेज दिया। उनकी जागीर उन्हें लौटा दी और शिवाजीको जीवित पकड़ लानेके लिये महावीर बाजी शामराजको आज्ञा दी। जावलीके राजा चन्द्रराव मोरे सुलतानके राजभक्त माण्डलिक थे। बाजी शामराजने उनकी सहायता लेकर शिवाजीको पकड़ना चाहा। शिवाजीको इसका पता लगते ही कुछ वीरोंको साथ लेकर वे अकस्मात बाजीपर झपटे, बाजी भाग गया। रघो बल्लाल और सम्भाजी कावाजी नामक शिवाजीके दो साथियोंने चन्द्ररावको शिवाजीका साथ देनेके लिये बहुत समझाया, पर जब वह किसी तरह नहीं माना और राजभक्तिका महत्व बताने लगा, तब दोनोंने मिलकर उसे मार डाला। शिवाजीने उदारतासे चन्द्ररावका राज्य उसके पुत्रोंको लौटा दिया। परन्तु जब देखा गया कि, चन्द्ररावके पुत्र सुलतानसे मिले हैं, तब शिवाजीने उनका शिरच्छेद किया, उनकी माता और स्त्रियोंको पेन्शन कर दी और जावलीका राज्य अपने राज्यमें मिला लिया। इसके अनन्तर पारघाट नामक पहाड़ी स्थानमें शिवाजीने 'प्रतापगढ़' नामक किला बनवाया और 'पन्हालगढ़' तथा 'हिरड़' ये दो किले शत्रुओंसे छीन कर लिये।

बाजी शामराजके भाग आने पर अफ़ज़ुल खाँ नामक महापराक्रमी राक्षसतुल्य सेनापतिको सुलतानने शिवाजीपर भेजा। खाँ साहब बड़ी भारी सेना लेकर आये सही, पर शिवाजीका राज्य-प्रबन्ध देखकर दहल गये। सीधेसे लड़कर शिवाजीसे पार पाना

असम्भव जान, खाँने कुटिल नीतिका अवलम्बन किया। उसने शिवाजीसे कहला भेजा कि, हम तुमसे सन्धि करना चाहते हैं। अमुक दिन अमुक स्थानपर निःशस्त्र हो, एकान्तमें मुझसे मिलो, तो सन्धिकी शर्तें तय करली जायँगी। मैं भी निःशस्त्र रहूंगा। खाँकी चाल शिवाजी ताड़ गये। वे बाघनख (यह शस्त्र नहीं है) अंगुलियोंमें पहिनकर कवच धारण कर तानाजीको साथ ले, निश्चित स्थानमें पहुंचे। खाँने गले मिलनेके बहानेसे शिवाजीको दृढ़तासे पकड़कर उनपर कटारी चला दी। पर्वतके समान शरीरवाले खाँने नाटे शिवाजीको बच्चेकी तरह दबा रक्खा था। वह कटारी उन्हें लगती, तो उनका अवश्य अन्त हो जाता; परन्तु शरीरपर कवच होनेसे कटारी छटक गयी। इतनेमें ही चपलतासे बाघनखोंसे शिवाजीने अफ़ज़ुलका पेट फाड़ डाला। तानाजीने उसकी सेनाको हराया, शिवाजी विजयी हो, लौट आये।

अफ़ज़ुलके वधकी वार्ता बिजापुर पहुंच कर दूसरा सरदार आता है, तब तक शिवाजीने कोल्हापुर प्रान्त और पन्हाला, पवनगढ़, वसन्तगढ़, रांगणा और खेलना (विशालगढ़) ये किले अपने अधीन कर लिये। दाभोल और राजापुर इनके कब्जेमें पहिले ही आचुके थे। अबकी बार कर्नुलके सिद्दी जौहर, अफ़ज़ुलका पुत्र फाज़ल, जंजीरेका सिद्दी और वाड़ीका सावन्त, ये चार वीर लगभग ८० हज़ार सेना लेकर आये और उन्होंने पन्हालेके किलेमें शिवाजीको घेर लिया। शिवाजीका सैन्य बल थोड़ा था। सम्मुख लड़नेमें अपनी हानि जान, उनसे शिवाजीने सन्धिकी बात छेड़ दीं। फिर एक दिन यवनोंको असावधान देख, वे किलेसे चल दिये और रांगणाकिलेमें सुरक्षित पहुंच गये। इधर बाजी प्रभु उस बड़ी फौज़से लड़कर रणमें काम आये, पर उस अकेले वीरके प्रतापको सह न सकनेके कारण उक्त सेना कटी, मरी और अन्तमें भाग गयी। सब

सरदारोंके हारजाने पर फिर बड़ी भारी सेना तैयार कर स्वयं सुलतान आदिलशाह शिवाजीसे लड़ने आया, पर बीचमें ही कर्नाटकमें बलवा हुआ। उसका प्रबन्ध करने सुलतान लौट गया और अपना काम प्रसिद्ध वीर सावन्त और घोरपड़ेपर सौंप गया। शिवाजीने दोनोंको युद्धमें मार डाला। समस्त कोंकण प्रान्त शिवाजीके अधीन होनेपर समुद्रपर अपना प्रभुत्व स्थापन करनेके विचारसे दो सरदार नियुक्त कर शिवाजीने हज़ारों जहाज बनवाये। पोर्तुगीजोंको भय दिखाकर उनसे गोला बारूद आदि युद्ध सामग्री देते रहनेका प्रण करवाया और समुद्रतटपर आधिपत्य स्थापन करते हुए वहांका सुप्रबन्ध किया। इस प्रबन्धके लिये समुद्र तटपर शिवाजीने कई नये दुर्ग बनवाये।

सब प्रकारसे हारकर शिवाजीसे सन्धि करनेका सुलतानने निश्चय किया। परन्तु शिवाजी सन्धि करेंगे या नहीं, इसमें उसे सन्देह था। अतः सन्धि करानेके लिये उसने शाहजीको भेजा। शाहजी गये। उनको शिवाजीका राज्य-प्रबन्ध देख, बड़ी प्रसन्नता हुई। शिवाजीने शाहजीका बड़ा सत्कार किया। उनकी पालकीमें वे स्वयं लगे थे। पिता पुत्रकी भेंट हुई। दोनों ओरसे आनन्द-सागरकी लहरें उमड़ पड़ीं। वात्सल्य और श्रद्धाभक्तिका अपूर्व संयोग हुआ। सन्धिके प्रस्ताव निकले। निश्चित हुआ कि, विजापुर राज्यका जितना भाग अबतक शिवाजी ले चुके हैं, उतना वे अपने अधीन रहने दें; पर जबतक शाहजी जीवित हैं, तबतक शेष विजापुर राज्यमें उपद्रव न करें। सन्धि हो गयी, शाहजी विजापुर लौट गये।

शाहजहाँका देहान्त होजाने पर औरङ्गजेब दिल्लीके सिंहासन पर बैठा। बिजापुरवालोंसे झगड़ा करना छोड़ अब शिवाजी मोगलोंकी ओर मुड़े। प्रथम उन्होंने जुन्नर प्रान्त मोगलोंसे छीन लिया।

इससे चिढ़कर औरङ्गजेबने शाहिस्तेखाँ नामक सेनापतिको बड़ा भारी लश्कर देकर शिवाजीका दमन करने भेजा। शाहिस्तेखाँने आते ही कल्याण, भिवण्डी आदि स्थानोंके साथ साथ पूना भी हस्तगत कर लिया। शिवाजी सिंहगढ़ पर थे। शाहिस्तेखाँ पूनेमें शिवाजीके महलमें आ डँटा। एक दिन रसोई घरमें सेंध लगाकर शिवाजी रात्रिके समय एकाएक अपने पूनेके महलमें घुसे। शाहिस्तेखाँ सोया था, उसे जगाकर उन्होंने युद्धके लिये ललकारा। शाहिस्तेखाँ एक खिड़कीसे भयभीत हो कूदने लगा। शिवाजीने तलवारसे उसकी अँगुलियाँ काट डालीं, वह धमसे महलके नीचे जा गिरा। मोगल सेनामें कोलाहल मचा, सामनेके जङ्गलके वृक्षोंकी टेहुनियों और मेढ़ोंके सींगोंमें तेलमें भींगे लत्ते बाँधकर शिवाजीके सैनिकोंने जला रक्खे थे। मेढ़े भाग निकले। मोगलोंने सोचा मराठे वीर भाग रहे हैं। सब उन्हीं पर झपटे। पीछेसे मराठोंने उनपर धावा कर सबको मार भगाया। शाहिस्तेखाँ हार कर लौट गया। जुन्नर, सूरत तथा वेंगुर्ला बन्दर और मक्काकी ओर जानेवाले मुसलमानोंके बहुतसे जहाज शिवाजीने लूटकर विपुल सम्पत्ति प्राप्त की। शिवाजीने युद्ध सामग्री एकत्र करनेके लिये धनकी कमी इस प्रकार पूरी की। विजापुरवालोंने शिवाजी-से हुई सन्धि तोड़कर पुनः कोंकणमें युद्ध किया, पर इस वार भी उन्हें हारना ही पड़ा।

इसी समय शाहजीका देहान्त होनेसे शिवाजी बहुत दुःखित हुए। जीजाबाईके दुःखकी सीमा न रही। तथापि स्वराज्य स्थापनका उद्योग उन्होंने शिथिल नहीं होने दिया। शिवाजीने 'राजा' की पदवी धारण की और अपने नामके सिक्के राज्यभरमें चला दिये। इधर जयपुर नरेश जयसिंहके साथ दिलेरखाँको औरङ्गजेबने शिवा-जी पर भेजा और विजापुरवालोंको मिला लिया। दोनों मुसल-

मान राज्योंकी प्रचण्ड सेनासे टक्कर देना असम्भव जान, मोगलोंसे सन्धि करनेका प्रस्ताव शिवाजीने उपस्थित किया। यदि बिजापुरवालोंको शिवाजी हरा दें, तो सन्धि करली जाय, इस बादशाही आज्ञानुसार जयसिंहके साथ शिवाजीने बिजापुर राज्यमें जाकर बहुतसा भूभाग हस्तगत कर लिया। सन्धि हो गई, औरङ्गजेबको शिवाजी पर विश्वास हुआ। उसने शिवाजीको दिल्ली आकर मिलनेके लिये निमंत्रण भेजा। शिवाजी दिल्ली गये। कुटिल औरङ्गजेबने दरबारमें उनका अपमान कर उन्हें कैद कर लिया। शिवाजीने बीमारीका बहाना कर टोकरोंमें फल फूल मँगवाकर दान करने और खाली टोकरे लौटानेका सिलसिला जारी किया। पहिले पहल टोकरे रक्षकों द्वारा देखे भाले जाते थे, पीछे उनका विश्वास हो गया कि, इसमें कोई कपट नहीं है। एक दिन एक टोकरेमें बैठ शिवाजी कैदखानेसे भाग निकले। दिल्लीसे मथुरा, काशी आदि तीर्थ स्थानोंसे होते हुए ६ मासमें वे सकुशल रायगढ़ पहुँच गये। मोगलोंका दाँव खाली गया। इधर उनकी अनुपस्थितिमें मोगलोंके साथ हुई सन्धिमें जितना भूभाग मोगलोंको दिया गया था, वह सब शिवाजीके वीर साथियोंने लौटा लिया। यही नहीं, किन्तु औरङ्गाबाद और बरारके कुछ हिस्से तक मराठोंका प्रभाव जम गया। फिर दाऊदखाँ, दिलेरखाँ, खानजहान, मोहब्बतखाँ, हुसेनखाँ आदि कितने ही वीरपुङ्गव प्रचण्ड सेनाएँ लेलेकर दक्षिणमें आये, पर शिवाजीके आगे किसीकी दाल न गली। शिवाजीका दमन करने बादशाह सुलतान और गोलकुण्डा नरेश एकत्र होकर आये, पर अन्तमें तीनोंको शिवाजीसे बड़ी कठिनाईसे सन्धि कर लेनी पड़ी। सूरत मराठोंने फिरसे लूटी। उक्त तीन बादशाहोंके हार जानेके कारण मराठोंके हाथ अटूट सम्पत्ति लगी। मराठोंका कर्नाटकसे लेकर बरारतक विशाल राज्य स्थापित हुआ। फिर

शिवाजीने दीवानी-फौजदारी कानून बनाये। राजकीय शब्दकोष बनाया। मुसलमानी नाम बदलकर सब विभागों और अधिकारियों-के मराठी नाम रक्खे गये। अनेक मठ-मन्दिर बने। पुराने तीर्थ और देवस्थानोंका जीर्णोद्धार हुआ। राज्यके विभाग कर प्रत्येक सूबेपर विश्वस्त सूबेदार नियुक्त हुए। रुग्णालय, विद्यालय, धर्मा-लय स्थापित हुए। वेद-शास्त्रोंका पुनरुद्धार हुआ। इस राज्यका नाम 'महाराष्ट्र' रक्खा गया। शिवाजीके गुरु समर्थ रामदासका दिया हुआ गेरुआ पताका राज्यभरमें फड़कने लगा। हिन्दु प्रजा सुखी हुई। मुसलमान प्रजाका भी यथाधिकार प्रबन्ध और आदर हुआ। कई विभागोंके अधिकारी मुसलमान ही थे। शिवाजी अपनी सब प्रजाको,-चाहे वह किसी जाति या धर्मकी हो,—सम-दृष्टिसे देखा करते थे। इसीसे उनके साथी उनकी आज्ञाको वेद-वचन समझ, देश और धर्म कार्योंको करते हुए अपने प्राणोंकी भी परवाह नहीं करते थे। एक दिन तो उनका मित्र तानाजी अपने पुत्रके विवाह कार्यमें व्यस्त था। बधू वरकी भाँवरें पड़ रही थीं, इतनेमें शिवाजी आकर कहने लगे,—"तानाजी! कोंडाणा किला मुसलमानोंके अधिकारमें चला गया है, उसे छुड़ाने मैं जाता हूँ, इधरका काम तुम सम्हालना।" तानाजीने उत्तर दिया,—"महाराज! आप जीते रहें, तो सैकड़ों तानाजी उत्पन्न हो सकेंगे, परन्तु ताना-जी जीकर शिवाजीको निर्माण नहीं कर सकता।" तुरन्त उस वीरने पुत्रका शेष विवाह कार्य शिवाजीपर छोड़, अपने भाई सूर्याजी और कुछ चुने हुए वीर साथ ले, किलेपर धावा बोल दिया। मनुष्य-बल कम होनेसे गोहके सहारे वे थोड़ेसे वीर दुर्गके तटपर चढ़ गये और मार काट करने लगे। किलेदार उदयभानु नामक राजपूत वीर था। अकस्मात् मराठोंका धावा आया जान वह बड़ा घबड़ाया, पर बड़ी वीरतासे लड़ा। इस युद्धमें उदयभानु

और तानाजी दोनों स्वर्गवासी हुए, किन्तु सूर्याजीने किलेपर अधिकार कर लिया। शिवाजीको मित्र-निधनका बड़ा शोक हुआ। सूर्याजीको तानाजीके सब अधिकार दिये गये। शिवाजी बोल उठे,—"गढ़ हाथ आया, पर सिंह निकल गया!" उसी दिनसे उस किलेका नाम सिंहगढ़ पड़ा। इसी तरह एक बार एक मुसलमान सेनापति चारों ओर खाईं खोद, उसमें अग्नि जलाकर बीचमें सदल बल आनन्दसे सो रहा था। खाईं पार करना शिवाजीने असम्भव समझा, परन्तु शिवाजीके कुछ साथी उस जलती खाईमें कूद गये। उन्होंने अपने देहोंका खाईपर पुल बनाकर कहा,—"महाराज! इस पुलपरसे आप जाकर यवन सेनापतिको मारिये।" शिवाजी उसी पुलपरसे गये और दलबलसहित सेनापतिको मार आये। पर इस घटनासे देशभक्ति और स्वामिभक्तिकी पराकाष्ठा हो गयी!

अस्तु, काश्मीर, काशी आदि विद्यापीठोंसे आये हुए गागाभट्ट जैसे पण्डितों और अनेक हिन्दु-मुसलमान माण्डलिकोंने मिलकर ता० ६ जून १६७४ को रायगढ़पर बड़े समारोहके साथ शिवाजीको राज्याभिषेक किया। समर्थ रामदास उत्सवमें स्वयं पधारे थे। राजमाता जीजाबाईके आनन्दका तो वर्णन ही क्या हो सकता है? जिस हिन्दुपदपातशाही स्थापन करनेका बाल शिवाजीने बीड़ा उठाया था, वह पातशाही आज स्थापित हुई देख, देशभरमें आनन्द छा गया।

इधर शिवाजीने स्वराज्य स्थापन कर लिया, पर उधर कर्नाटकमें उनका भाई व्यङ्कोजी विजापुरके सुलतानके अधीन रहकर पिताकी जागीरका उपभोग करता था। यह बात शिवाजीको बहुत खटकती थी। कई बार वकील भेजकर शिवाजीने भाईको समझाया कि, तुम भी स्वतन्त्र हो जाओ, हम तुम्हें सहायता करेंगे। परन्तु

वह राजभक्तिका बराबर महत्त्व बताता गया। अन्तमें शिवाजीने कर्नाटकपर चढ़ाई की और सारा देश पादाक्रान्त कर डाला। गोवलकोण्डेके शाहसे शिवाजीकी सन्धि हुई थी। उसपर विजापुर-वालोंने चढ़ाई की, उस समय शिवाजीने उसकी ओरसे फिर विजापुर वालोंको हराया। इस प्रकार शिवाजीके प्रतापसे सिद्दी, हबशी, मोग़ल, पठान अर्थात् शाह, सम्राट्, सुलतान आदि ठण्ढे हो गये। फिर उन्होंने शिवाजीसे कभी छेड़छाड़ नहीं की। इस कर्नाटकके युद्धमें दक्षिणका जितना भूभाग शिवाजीके हाथ केवल २ वर्षमें आया, उतना ३० वर्षों तक अनेक योधाओंसे लड़ते हुए पश्चिमोत्तर महाराष्ट्रका भाग नहीं आया था। इतना विशाल राज्य स्थापन कर एक दिन शिवाजीने निरभिमान हो, सब राज्य भिक्षाके समय गुरुचरणोंमें अर्पण कर दिया था, और वह गुरुजीके लौटा देनेपर आजन्म वे उनके प्रतिनिधिरूपसे राज्य करते थे। थोड़े ही दिन राज्य कर अर्थात् अपना अवतार कार्य समाप्त हुआ जान, छत्रपति श्रीशिवाजी महाराजने ता० ५ अप्रेल १६८० ई० को मातृ-भूमिके चरणोंमें ५३ वर्षोंकी अवस्थामें अपना पवित्र देह कुसुम चढ़ा दिया। महाराष्ट्रमें ही नहीं, किन्तु सारे भारतमें हाहाकार हो गया। हिन्दु मित्रोंकी तरह यवन शत्रुओंके नेत्रोंसे भी दो आँसू टपक पड़े। शिवाजीके अन्तिम उद्गार थे,—"मेरे प्यारे महाराष्ट्र वीरो! आप सब मिलकर एक चित्त हो, स्वधर्म और स्वदेशकी रक्षा करो।" कुछ दिनों बाद राज्यका भण्डार देखा गया; उसमें ६ करोड़ रुपये, ५१ हजार तोला सोना, २०० तोला माणिक, १०० तोला मोती, ५०० तोला हीरा, सेरों अन्य रत्न, मनों चांदी, विपुल धान्य, बहुमूल्य वस्त्र और अटूट युद्ध सामग्री पाई गयी।

२२ वें वर्षमें शिवाजीने समर्थ रामदाससे मन्त्रोपदेश लिया, तबसे आजीवन उनका दर्शन किये बिना न अन्न ग्रहण किया, न

उनके परामर्शके बिना कोई कार्य किया। स्वराज्यकी स्थापना करनेमें रामदाससे शिवाजीको असाधारण बौद्धिक सहायता प्राप्त हुई थी। इसीसे कहा है—

ना ब्रह्म क्षत्रमृध्नोति ना क्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्मक्षत्रन्तु सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥

अर्थात् केवल ब्रह्मशक्ति या क्षात्रशक्ति कोई कार्य नहीं कर सकती। दोनों शक्तियोंके मिलनेसे ही इह-परलोकके काम सधते हैं। ब्राह्मणों और देवस्थानोंको छोड़ किसीको शिवाजीने जागीरें नहीं दीं। हरएक सूबेपर ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर इस प्रकार दो अधिकारी वे रखते थे। राज्य कार्यमें जातिभेद वे नहीं मानते थे। उनकी राज्यप्रणाली प्रायः ब्रिटिश राज्यप्रणालीके तुल्य थी। नीति-न्यायमें पक्षपात नहीं होता था, यही उसमें विशेषता थी। शिवाजीके पीछे उनके पुत्र संभाजीको औरङ्गजेबने धोखा देकर निर्दयतासे मार डाला। महाराष्ट्रके स्वामी उनके पुत्र शाहू हुए। शाहूके राज्यका वीरवर बाजीरावने बहुत ही विस्तार किया। एक दिन ¾ भारतवर्ष मराठोंके अधीन था। बड़े बड़े राजपूत राजा भी उन्हें कर देते थे। शिवाजीके पुण्यसे आज भी महाराष्ट्र राजनीति-कुशल है। शिवाजीके आविर्भावसे महाराष्ट्र ही नहीं; सारा भारतवर्ष धन्य हुआ है।

महाराजा छत्रसाल।

इस समय जिस प्रान्तको मध्यभारत कहते हैं, वह सब प्रान्त तथा मालवा, मध्यप्रदेश और युक्त प्रदेशके कुछ हिस्से दीर्घकालसे 'बुन्देलखण्ड' के अन्तर्गत थे। किन्तु अब बुन्दे-

लखण्डकी मर्यादा आकुञ्चित कर दी गयी है। दो सहस्र वर्ष पहिले बुन्देलखण्डपर पड़िहार क्षत्रियवंशके राजा राज्य करते थे। इनकी राजधानी ओरछामें थी, उस समय इलाखण्डके नामसे यह भूखण्ड प्रसिद्ध था। विक्रमीय सम्वत् २०४ में चन्द्रवंशी (चन्देल) राजाओंने कालिञ्जरमें राजधानी स्थापित कर पडिहारोंसे इलाखण्ड छीन लिया। कुछ दिन दिल्लीश्वर पृथ्वीराजकी अधीनतामें यह देश रहा; किन्तु वे स्वयं जब शहाबुद्दीनके बन्दी हुए, तब उनके खँगार सूबेदार इसपर अधिकार कर बैठे। राठोरवंशीय पदच्युत काशिराज हेमकर्णने अपने शरीरके रक्तकी बूँदें चढ़ाकर विन्ध्यवासिनीकी आराधना की, और साक्षात्कार होनेपर भगवतीकी आज्ञासे अपना नाम पञ्चमसिंह रक्खा। उन्हींके वरदानसे इलाखण्डमें अपना नया राज्य बसाया। इनके वंशज सहनपालजीने सम्वत् १३१३ में जब इलाखण्डको खँगारोंसे छीना, तब उसका नाम अपने पूर्वजोंके रक्त-बिन्दु समर्पणके स्मारकमें 'बिन्दु-इला-खण्ड' रक्खा। इसीका अपभ्रष्ट रूप 'बुन्देलखण्ड' है। इसके अधिपति होनेसे सहनपालजी और उनके वंशज 'बुन्देले' कहाने लगे। सहनपालजीकी राजधानी गढ़कुण्डारमें थी, किन्तु उनके वंशज मलखानने पुरानी राजधानी ओरछेमें ही अपना राज्यासन स्थिर किया। मलखानकी पाँचवीं पीढ़ीमें पराक्रमी चम्पतराय हुए, उन्हींके सबसे छोटे पुत्र महाराज छत्रसाल थे।

मलखानके द्वितीय पौत्र मधुकरशाह ओरछानरेश हुए और तृतीय पौत्र उदयाजितको 'महेवा' नामक छोटीसी ज़ागीर मिली। उदयाजितके वंशजोंमें पीढ़ी दर पीढ़ी महेवाके हिस्से बँटते रहे। उन्हींके वंशजोंमें उत्पन्न चम्पतरायको महेवाका इतना छोटा हिस्सा मिला कि, उसकी आयसे एक मनुष्य भी जीवननिर्वाह नहीं कर सकता था। विवश हो, चम्पतराय डाँके डालकर उदर-पोषण

करने लगे। कुछ दिनोंतक आसपासके बुंदेलोंके राज्योंमें ही वे लूट पाट करते थे; परन्तु थोड़े ही दिनोंमें अपने देशवासियोंको कष्ट पहुँचानेसे उन्हें घृणा हुई और विधर्मी दिल्लीपति शाहजहाँके उभड़ते बलको तोड़नेका उन्होंने निश्चय कर लिया। देश और धर्मरक्षाके इस कार्य्यमें उन्होंने उस समयके ओरछाधिपति पितृव्य पहाड़सिंहसे सहायता चाही, पर उस देशविरोधीने सहायता देना दूर रहा, अपने यवनमन्त्री नसीमुद्दौलाके परामर्शसे उन्हें विष देकर मार डालना चाहा। प्रारब्धवश उनपर विष-प्रयोग न हो सका, वे माताकी आज्ञासे दाराशिकोहके पास चले गये। इस वीरको कुमारगढ़-विजयके उपलक्ष्यमें दाराने बड़े आदरसे ६ लाख रुपयोंकी जागीर देदी। परन्तु पहाड़सिंहके कुटिल राजकारणके पेंचमें फँस जानेसे चम्पतरायको जागीरसे हाथ धो बैठना पड़ा। दिल्लीश्वर और पहाड़सिंह इन दोनों शत्रुओंके सैन्योंसे अकेले लड़ते भिड़ते जङ्गल जङ्गल बहुत दिनों तक वे मारे मारे फिरे। इसी अवस्थामें मोरपहाड़ी नामक स्थानमें सम्वत् १७०६ ज्येष्ठ शुक्ला ३ सोमवारको उन्हें 'छत्रसाल' नामक अन्तिम पुत्र हुआ। यह बालक छः महीनेका होगा कि, एक दिन अकस्मात् शत्रु चम्पतरायपर दौड़ आये। रानीसहित चम्पतराय तो किसी प्रकार भाग गये, पर बालक वहीं पड़ा रहा। एक दो दिनोंके पश्चात् उनका एक विश्वस्त सैनिक बच्चेको ले आया, जिसे पाकर राजा रानी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सुरक्षित स्थानके अभावसे बच्चेको उसी सैनिक द्वारा रानीसहित ननिहाल भेज दिया। तीन चार वर्षोंके पश्चात् रानी नैहरमें छत्रसालको छोड़, पतिके पास लौट आयी। दोनों बनमें सिंहसिंहनीकी भांति रहने लगे। दुष्ट पहाड़सिंह उनकी इतनी दुर्दशासे भी सन्तुष्ट न हुआ। एक दिन अचानक धमौनीके जङ्गलमें उसने इनपर बादशाही सेनाका हमला

करवा दिया! स्त्री-पुरुष घण्टों तक लड़ते रहे, परन्तु अगणित सेनाके सामने कितना लड़ते? अन्तमें दोनों आहत होकर गिरपड़े। चम्पतराय छटपटा रहे थे। उनकी यह दशा रानीको असह्य हो उठी। उस वीर नारीने कमरसे तमञ्चा निकालकर अपने हाथसे पतिकी छातीमें दाग दिया और खञ्जरसे आत्म-हत्या कर ली। इस वीरताको देख, यवन-सैनिकोंको भी दाँतों तले अङ्गुली दबानी पड़ी। इस समय छत्रसालकी अवस्था ७ वर्षोंकी थी। ६ वर्ष ननिहालमें और ३ वर्ष महेवामें पितृव्य सुजान रायके पास रहकर मातृपितृविहीन छत्रसालने राजनीति और युद्ध-विद्याकी अच्छी शिक्षा प्राप्त की। १६ वें वर्ष उन्हें एकाएक पिताकी यवनदलन और हिन्दुराज्य संस्थापनकी प्रतिज्ञाका स्मरण हो आया। इस कार्यको हाथमें लेनेके विषयमें उन्होंने पितृव्यसे परामर्श किया; परन्तु उन्हें निराश होना पड़ा। सुजान रायने कार्यको तो सराहा, पर सहायता देनेमें असमर्थता प्रकट की। छत्रसाल हताश न होकर वहांसे सीधे जाकर जयपुर-नरेश जयसिंहसे मिले। यद्यपि इन्हें यवनसेवा नहीं करनी थी, तथापि प्रत्यक्ष युद्धका अनुभव लेनेके विचारसे इन्होंने सेनामें सम्मिलित होनेकी जयसिंहसे इच्छा प्रकट की। जयसिंहने प्रसन्नतासे इन्हें अपनी सेनाका एक सेनानायक बना लिया। इतनेमें बादशाहने जयसिंहको वापस बुला लिया और उनके स्थानमें बहादुर शाहको भेज दिया। यह बादशाही सेना देवगढ़पर चढ़ाई करने जा रही थी। देवगढ़में छत्रसालके बड़े भाई अङ्गदराय रहते थे। उन्हें युक्तिसे अपने पास बुला लिया और बहादुर शाहके साथ रहकर छत्रसालने देवगढ़-पर ऐसी चढ़ाई की कि, १६००० राजपूत सैनिकोंसे हाथ धोकर देवगढ़के राजा कूर्ममल बन्दी हो गये। छत्रसालकी वीरताको सबने सराहा, पर इस विजयके उपलक्ष्यमें बादशाहसे बड़े बड़े

पारितोषिक बहादुर शाहको मिले और ये कोरे ही रहे। १७ सहस्र वीरोंसे लड़कर इन्हें अनेक घाव लगे, महीनों बीमार रहे और अन्तमें फल कुछ नहीं हुआ। बहादुरशाहके साथ फिर इन्होंने दक्षिण पर चढ़ाई की और फिर विजय पाई, पर फल पहिले जैसा ही हुआ। मुसलमानोंकी इस कृतघ्नतासे असन्तुष्ट हो, छत्रसाल हिन्दुपदपादशाही स्थापन करनेवाले छत्रपति शिवाजीके पास गये और अपने हृदयकी सब बातें निवेदन कीं। शिवाजी बड़े प्रसन्न हुए। छत्रसालको युद्धनीतिका उपदेश देकर शिवाजीने सब प्रकारसे सहायता देनेका वचन दिया और एक आज्ञापत्र लिख दिया, जिससे उन्हें शिवाजीकी रियासतोंसे यथेष्ट धन मिल सके। शिवाजीसे शिक्षा और सहायता पाकर छत्रसाल फूले नहीं समाये। उनके मार्गके सब द्वार खुल गये। वे सहस्र गुण उत्साहसे यवनोंका गर्व खर्व करनेके लिये उद्यत हो गये। शिवाजी-से छत्रसालने साथ रख लेनेकी प्रार्थनाकी थी, किन्तु शिवाजीने यह कह कर स्वीकार नहीं की,—"मेरे साथ रहकर तुम्हारी स्वतन्त्र कीर्ति न होगी। तुम्हारे जैसे दश वीर ही मुझे मिल जायँ, तो देशमें हिन्दुधर्मकी रक्षाका क्षणभरमें प्रबन्ध हो जायगा। अस्तु, जितने मिलें, उतनोंसे ही काम लेना चाहिये। जाओ, भवानी माता तुम्हारी सहायक होंगीं, परन्तु देखना विघ्न-बाधाओंसे डरना नही, प्रतिज्ञासे हटना नहीं और उन्मत्त होना नहीं। गम्भी-रता ही वीरताकी जीवनी शक्ति है।"

औरङ्गाबादमें छत्रसालके बलदिवान नामक चचेरे भाई रहते थे। उन्हें और अङ्गदरायको साथ लेकर छत्रसाल अपनी जन्मभूमि मोर पहाड़ीमें सेना जुटाने लगे। शिवाजीकी कृपासे धनाभाव नहीं रहा था, इस कारण सेना शीघ्र ही संघटित हुई। युद्धास्त्र भी देखते देखते एकत्र हो गये। इधर ओरछाधिपति सुजानसिंह

औरंगजेबने लिख भेजा कि, बुन्देलखण्डके सब मन्दिर तुड़वा दो, हिन्दुओंको मुँडवा दो, इस कार्यमें मुसलमानोंको मदद दो या शाही फौजसे लड़नेके लिये तैयार हो जाओ। अब सुजानसिंह घबड़ाये। निश्चय हुआ कि, यह विपत्ति छत्रसालसे ही दूर हो सकती है। तुरन्त छत्रसालको बुलवाया, पुराने अपराधोंके लिये क्षमा मांगी और अपनी तलवार तथा बहुतसा धन आदरके साथ अर्पण कर प्राण-रक्षाकी प्रार्थना की। वीर छत्रसालने उन्हें अभय दिया और वहींसे दिग्विजय करनेकी ठान ली। छोटे बड़े अनेक राजाओंसे वे मिलते, यदि उन्हें अनुकूल देखते तो साथ ले लेते, उनकी सुरक्षा करते और प्रतिकूल होनेपर उनका राज्य हरण कर लेते थे। इस प्रकार युद्ध कर या साम-दाम-भेदके उपायोंसे थोड़े ही दिनोंमें औंडेरा, धंधेरखण्ड, धामौनी, जैतपुर, बांसा, पर्वाय, मऊँगढ़ा, कालिंजर, सागर, झांसी, बांदा, जालोन, गुलसराय आदि कई स्थान और बड़े बड़े किले छत्रसालने हस्तगत किये। मुनौवर खां, तहगर खां अनवर खां, सुदरूदीन, बहलूल खां, दलेलखां, साहकुली खां, महम्मदखां, बहादुर खां आदि कितने ही दिल्लीश्वरके सेनानायकों-के दांत खट्टे किये। अगणित सम्पत्ति, हाथी, घोड़े, वस्त्र, परिजन, बन्दूकें, तोपें तथा अन्यान्य राजसिक युद्धसामग्री प्राप्त की और समग्र बुन्देलखंड देखते देखते स्वतन्त्र बना डाला। मुख्य राज-धानी पन्नामें स्थापित हुई, पर छत्रसाल मऊमें ही रहते थे। अंगदराय और बलदिवान भी बड़े बड़े राज्योंके अधिकारी हुए। छत्रसालके अधीन कितने ही छोटे छोटे राज्य थे, जिनसे वे चौथ और नजराना लिया करते थे। सन् १६८७में काशी, काश्मीर आदि विद्यापीठोंके पंडितों द्वारा यथाविधि छत्रसालका राज्याभिषेक हुआ।

छत्रसाल वृद्ध हो चुके थे और औरंगजेब तथा शिवाजी दोनों

इस लोकमें नहीं थे। यह अच्छा अवसर देख, महम्मद वंगशने बुन्देलखंडपर चढ़ाई की। इस परचक्रको हटानेके लिये छत्रसालने बाजीरावसे सहायता मांगी। बाजीराव तुरन्त बड़ी भारी सेना लेकर उपस्थित हुए, उसे देखकर वंगश भाग गया। इस उपकार-के बदलेमें छत्रसालने बाजीरावको पुत्र मानकर अपने राज्यका तीसरा हिस्सा दे दिया। झाँसी, सागर, जालौन आदि स्थानोंमें जो मराठोंके राज्य थे, वे छत्रसालके दिये हुए थे। पीछे मराठोंने अपने राज्योंका अधिक विस्तार कर लिया।

छत्रसालने अपने राज्यमें सब प्रकारके सुधार कर लिये थे। महल, सड़कें, मन्दिर, उद्यान, तालाब, किले आदि स्थान स्थानमें बनवाने और अनेक पहाड़ों तथा नदियोंके स्वाभाविकरूपसे होनेके कारण बुंदेलखण्ड बड़ा ही रमणीय हो गया था। इनकी प्रजा बड़ी सुखी थी। साधु-ब्राह्मणोंके प्रति इन्हें बड़ा आदर था। तीर्थस्थान, देवता और शास्त्रोंमें श्रद्धा थी। वीरताके साथ ही राजनीति-कुशलता, उदारता, परस्त्री-पराङ्मुखता आदि गुण इनमें पूर्णरूपसे विद्यमान थे। इनके १७ रानियां थीं, जिनसे ६८ परा-क्रमी पुत्र हुए। अनेक पुण्यकार्य और देश-धर्म्मोद्धार कर महाराज छत्रसालने संवत् १७८८ ज्येष्ठ सुदी ३ बुधवारको आनन्दसे पुत्र पौत्र-परिवारके सामने परलोककी यात्रा की।

एक धन-सम्पन्ना विधवा युवती भाटिनने छत्रसालको एकान्त-में बुलाकर घृणित इच्छा प्रकट करते हुए कहा,—"मैं आप जैसा पुत्र चाहती हूँ।" इन्होंने झट उसका स्तन अपने मुँहमें लगाकर हाथ जोड़कर कहा,—"माँ! मैं ही आपका पुत्र हूं।" बहुतसे साधु भले लोगोंकी बहू बेटियाँ चुरा लाकर चेलियाँ बना लेते और उनसे घृणित कर्म करते थे। इन्हें पता लगते ही इन्होंने ऐसे अधम साधु नामधारियोंको मरवा डाला। अच्छे साधुओंके तो

ये दासानुदास थे। प्राणनाथ महाराज इनके गुरु थे। चित्रकोट आदि तीर्थोंके मठ-मन्दिरोंका इन्होंने करोड़ों रुपये लगाकर जीर्णोद्धार कराया और साधुओंकी भिक्षाका प्रबन्ध कर दिया। ब्राह्मणोंसे भूमिका कर नहीं लेते थे और कहीं कहीं लेते भी थे, तो औरोंसे आधा या तिहाई। ये स्वयं अच्छे कवि और कवियोंका आदर करनेवाले थे। शिवाजीके पश्चात् शाहूसे लाखों रुपये लेकर भूषण कवि जब इनके यहां आये, तो इन्होंने उनके नातीको अपने हाथीपर बैठाया और स्वयं उनकी पालकीमें लग गये। यह देख भूषण बोल उठे--

नातीको हाथी दियो जापर ढुरकत ढाल ।
साहूके जस-कलसपर ध्वज बाँधी छत्रसाल ॥

छत्रसालके गुरुजीकी कृपासे इनके राज्यमें हीरे निकलने लगे, जो अबतक निकलते हैं। एक साधुकी आज्ञासे इन्होंने छत्रपुरका राज्य बसाया। जिगनी, बिजावर, ओरछा, सरीला, चरखारी, अजयगढ़, पन्ना आदि राज्योंके अधिकारी अब भी छत्रसालके वंशज ही हैं।

दृढ़ और सत्य संङ्कल्प होनेपर असहाय मनुष्य भी दैव-कृपा लाभकर, देश, धर्म और जातिका कैसा उद्धार करता और यशभाजन होता है, इसकी शिक्षा महाराज छत्रसालके चरित्रसे मिलती है।

प्रतापादित्य ।

प्रतापादित्य बंगाल देशके एक प्रतापवान् महाराज थे। सुन्दरवनके अन्तर्गत यशोहर नामक प्रसिद्ध नगर इनकी राजधानी थी। इनके पिताका नाम विक्रमादित्यराय और

चाचाका नाम बसन्तराय था। विक्रमादित्य कायस्थ जातिमें उत्पन्न हुए थे।

जिस समयकी घटनाका वर्णन किया जाता है, उस समय विश्वविख्यात अकबर दिल्लीका बादशाह था और गौड़नगरमें पठानवंशीय दाऊद वंगेश्वर बन बैठा था। विक्रम और बसन्त दोनों भाई दाऊदके प्रधान अमात्यके पदपर प्रतिष्ठित थे। मोगलोंके साथ दाऊदकी जब लड़ाई होनेकी सम्भावना हुई, तब सुचतुर विक्रमादित्यने पहिलेसे ही आत्मरक्षाके लिये यशोहर नगरमें बनवाये हुए दुर्गमें अपने परिवारको ला रक्खा और वे अकेले वंगेश्वरके पास रहने लगे। लड़ाईमें मोगलोंकी विजय हुई। वंगेश्वरने अपनी समस्त सम्पत्ति विक्रमादित्यको सौंप दी और वे उड़ीसा प्रदेशमें चले गये। विक्रमादित्य समस्त धनरत्नादि अपने यशोहर नगरमें ले आये। धनजनहीन गौड़नगर स्मशानसा हो गया।

टोडरमल बंगदेशके शासनकर्ता नियुक्त हुए। सुचतुर विक्रमादित्यने उनको भी हर तरहसे सहायता दी। उनके सरल व्यवहारसे तुष्ट होकर टोडरने उनका सम्मान किया और उनके राज्यकी उन्हें सनद दे दी। विक्रम अपने नगरमें आये और धर्मके साथ प्रजा-पालन करने लगे।

प्रतापादित्य परम रूपवान् पुरुष थे। बाल्यकालसे ही वे अस्त्र शस्त्र विद्या, अश्वारोहणादि विषयोंमें प्रवीण हो गये थे। फारसी भाषा उन्होंने सीख ली थी और जन्मसे ही वे स्वाधीनताप्रिय थे। किस तरहसे बंगालको स्वाधीन कर सकेंगे, दिनरात इसी चिन्तामें वे पड़े रहते थे। जब वे देखते थे कि, वंगदेशके अधिवासी जड़की तरह निश्चेष्ट होकर समय बिताते हैं, तब उनका हृदय जलने लगता था। शंकरचक्रवर्त्ती नामक उनका एक मित्र था। प्रताप

सर्वदा उसके साथ जंगलोंमें घूमा करते और बड़े बड़े बाघ भालू आदिको मारकर अपने चित्तको शांत करते थे।

विक्रमादित्यने उनका यह आचरण देख, भ्राता बसन्तसे परामर्श कर, उन्हें आगरेमें भेज दिया। अकबरकी सभामें उपस्थित होनेपर उनके हृदयकी स्वाधीनतास्पृहा और भी बढ़ गई। वे शासनप्रणाली, युद्धकौशल आदिकी शिक्षा ग्रहण करने लगे। प्रधान प्रधान कर्मचारियोंको उन्होंने मिला लिया था। प्रताप हिन्दीमें अच्छी कविता भी करने लगे थे।

बादशाहको बहुतसे रजवाड़ोंने कर देना बन्द कर दिया था। उस समय प्रतापने उनसे कहा,--"आप कृपा कर मुझे कुछ सेना दें, तो मैं रजवाड़ोंकी उद्दण्डताका प्रतीकार कर सकता हूं।" प्रतापको बादशाहने सेना दी। प्रतापने करका सुप्रबन्ध कर दिया।

विक्रमादित्यकी मृत्युके पश्चात् प्रतापने श्राद्धादि कार्य किया और कुछ दिनोंके बाद समीपस्थ नृपतियोंके साथ मित्रता करनेके लिये थोड़ासा सैन्य साथ लेकर वे पुरीधाममें गये। वसन्तरायने उत्कलेश्वर और गोविन्ददेवकी मूर्त्तियाँ लौटते समय साथ लानेके लिये उनसे कहा था। तदनुसार जब प्रताप दोनों मूर्त्तियोंको साथ लेकर रवाना हुए, तब उत्कलवासियोंने बाधा की। एक ओर समस्त उत्कलवासी प्रजागण और राजन्यवर्ग तथा दूसरी ओर थोड़ेसे सैन्यके साथ प्रतापादित्य, दोनों दलोंमें लड़ाई छिड़ गई। अपने अमित पराक्रमसे प्रतापने सबको पराजित किया और सबके साथ मित्रता स्थापन कर लौट आये। मूर्त्तियोंका उच्चाटन शास्त्रविरुद्ध होनेके कारण उन्हें लानेका उन्होंने हठ नहीं किया।

इस उत्कल-विजयसे प्रतापको सभी कोई आदरकी दृष्टिसे देखने लगे। भगवतीका वरपुत्र समझने लगे। प्रताप भी राज्य-विस्तारके लिये बहुतसे दुर्गम दुर्ग बनवाने, सेनाबल बढ़ाने और

धनसंग्रहका यत्न करने लगे। वीर हृदयमें स्वाधीनता लाभ करनेकी इच्छा सदा ही बलवती रहा करती है। उदारचरित महापुरुष दासत्वके चिरशत्रु हैं। किस प्रकार मोगलोंके अत्याचारसे अपनी जन्मभूमिका छुटकारा हो सकता है, किन किन उपायोंसे सारे वंगदेशमें स्वाधीनता स्थापित हो सकती है, यही चिन्ता प्रतापके वीर हृदयको सर्वदा नागिनकी तरह डँसा करती थी। प्रताप बीच बीचमें कहा करते थे, स्वाधीनताके लिये यदि मुझे स्वर्गको छोड़ कर अनन्तकालतक घोर नरकमें ही वास करना पड़े, तो उसके लिये मैं तैयार हूँ। वह नरक नहीं, मेरे लिये स्वर्ग ही होगा।

प्रतापने मदन, सुन्दर आदि अपने विश्वस्त मित्रोंपर विचार-पूर्वक एक एक विभागका काम सौंप दिया। कोई दुर्ग बनवाने, कोई शस्त्रसंग्रह और कोई धन-संग्रह करने लगे। कोई युद्ध-शिक्षा देने लगे, कोई नये नये सैन्यदल संघटित करने लगे। कोई जहाज बनवाने लगे। इसी तरहसे युद्धकी तैयारी होने लगी। शंकर भिक्षु-व्रत धारण करके समस्त हिन्दुराजाओंको मिलानेके लिये सर्वत्र भ्रमण करते करते राजमहलमें उपस्थित हुए। मुसलमानोंने उनको कैद कर लिया। उनको छुड़ानेके लिये प्रतापने बहुत कोशिश की और अन्तमें उन्हें छुड़ा लिया। मोगल वीर शेरखाँने जब सुना कि, शंकरने प्रतापकी शरण ली है, तब उसने बहुसंख्यक सैन्यके साथ शंकरको कैद और प्रतापका दमन करनेके लिये यशोहरकी ओर यात्रा की। लड़ाई शुरू हुई। शेरखाँकी सारी सेना मारी गयी और जो बची, सो भाग गयी। वंगवासियोंके बाहुबलसे मोगलवीर्यका पराभव हुआ।

अकबरको इसका पता लगते ही उसने इब्राहिमखांको विशाल सेनाके साथ भेजा। संग्रामपुर नामक स्थानमें फिर लड़ाई हुई। हिन्दु वीर अपनी स्वाधीनताकी रक्षाके लिये, अपने स्त्री-पुत्रोंको

मोगलोंके कराल ग्राससे मुक्त करनेके लिये, परमपवित्र देवमन्दिरों-की रक्षाके लिये और मोगल वीर अपने प्रभुत्वको बचानेके लिये, प्राणपणसे युद्धके हेतु प्रस्तुत हो गये। घनघोर युद्धके पश्चात् मोगलोंका ही पराजय हुआ ।

इस प्रकार विजय प्राप्त कर, अपना दबदबा मोगलोंपर जमानेके अर्थ प्रताप मोगल-राज्योंपर चढ़ाई करनेके लिये कटिबद्ध हो गये। उत्कलके हिन्दु राजन्यगण और पठान सेनापति उनके साथ हो लिये। प्रतापके सुसज्जित विपुल सेनादलने धीरे धीरे अग्रसर होकर राजमहलपर धावा किया। कुछ दिनों तक घोर युद्ध होता रहा। अन्तमें राजमहल छोड़कर मोगलगण भाग गये। फिर प्रतापने विहारकी प्रधान राजधानी (पटना) पर अधिकार किया। और बंग तथा विहारको मोगलोंके कराल कवलसे मुक्त कर, पूर्ण स्वाधीन बना दिया। स्वाधीनताका यह सुख हिन्दुओंको बहुत वर्षोंतक मिला था ।

कुछ दिनोंके बाद अकबरने सेनापति आजिमखाँको बहुतसी सेनाके साथ प्रतापका दमन करनेके लिये भेजा। महावीर प्रतापने इस युद्धमें बीस हज़ार मोगल सेनाको हराया। कुछ मारे गये, कुछ भाग गये और बहुतसे बन्दी हुए। आजिमखाँ अल्लाके घर गये। युद्धसमाप्तिके बाद प्रतापने उदारतापूर्वक समस्त मृत मुसलमानोंका यथोचित सत्कार किया। यशोहरके निकट उनकी कबरें अबतक हिन्दु-कीर्तिका परिचय दे रही हैं ।

इस बार सम्राट् अकबर बड़ा चिन्तित हुआ। उसने सोच विचारकर बाईस अमीरोंको बहुविध शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित अपनी सेनाओंके साथ प्रतापपर भेजा। वे लोग निरपराध प्रजाके ऊपर बहुत अत्याचार और हिन्दु देव-मन्दिरोंका ध्वंस करते हुए बङ्ग-देशमें आ पहुँचे। इस बारकी मोगल-सेनाओंकी संख्या देखकर

प्रताप भी दहल गये। उस समय अकबरके विरुद्ध अस्त्र-धारण करके कोई नहीं जी सकता था। एक तरह सारा भारतवर्ष उसके अधीन था। उदयपुरके महाराणा प्रतापसिंहको छोड़, समस्त क्षत्रियोंने अकबरकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। फिर भी जिनके हृदयमें स्वाधीनता-स्पृहा जागृत है, चाहे शत्रु कैसा ही क्यों न हो,—जीते जी वे अपना सिर किसीके आगे झुका नहीं सकते, तदनुसार दहलकर भी प्रताप निरुत्साह नहीं हुए। खण्ड-युद्ध करके उन्होंने कुछ दिन बिताये। जब वर्षाऋतु आरम्भ हुई और सारा वङ्गदेश जलके प्रवाहमें तैरने लगा, तब मोगलोंकी भी दुर्दशाका प्रारम्भ साथ ही साथ अनायास प्रारम्भ हुआ। मोगल शिविरोंमें विषम ज्वरादि रोग और दुर्भिक्षने प्रवेश किया। चारों ओर जहरीले साँप सिर उठा उठाकर पहरा देने लगे। प्रतापकी बन आई। उन्होंने मोगलों पर वीरतासे चारों ओरसे आक्रमण किया। मुसलमानोंकी 'दीन दीन' ध्वनिके साथ हिन्दुओंकी 'काली काली' की ध्वनि मिलकर आकाशको कम्पित करने लगी। भारतीय वीरोंने असाधारण वीरतासे मोगलोंको पराजित किया। प्रायः समस्त मोगल मारे गये। जो कुछ अवशिष्ट थे, वे बन्दी किये गये। इसके बाद दिल्लीमें कुछ परिवर्तन हुआ। अकबरकी मृत्यु हुई और कुमार सलीम सम्राट् हुआ। आजिमखाँ मानसिंहादि वीरोंने कुमार खुसरूको सिंहासनपर बैठानेके लिये बहुत यत्न किये, परन्तु वे सफल नहीं हुए। उस समय मानसिंहके अधीन २० हजार सेना थी। सलीमने सोचा, मानसिंहके राजधानीमें रहनेसे बहुत कुछ अनिष्ट होनेकी सम्भावना है। इसलिये उनको सलीमने वङ्ग-बिहार-उत्कलके शासनकर्त्ताके पदपर नियुक्त कर बंगदेशमें शान्तिस्थापनके लिये भेज दिया। हमारी समझमें शान्तिके लिये नहीं, किन्तु बंगदेशमें अशान्ति बढ़ानेके लिये ही भेजा था।

विदेशियोंसे जितनी भारतकी हानि हुई, उससे कहीं अधिक भारतीयोंसे हुई है। जो काम अत्याचारी विधर्मी मोगलोंसे नहीं हुआ, भारतकलङ्क मानसिंहने वह कर दिखाया। मानसिंह वङ्गदेशमें आ पहुंचे। इधर कुछ महापापी विभीषणोंके हृदयोंमें प्रतापका उत्कर्ष असहनीय हो रहा था। वे लोग तुरन्त मानसिंहसे मिल गये। प्रतापकी युद्धसम्बन्धी जितनी गुप्त रीतियाँ थीं, उन्होंने मानसिंहसे कह दीं। यशोहरदुर्गमें किधर कितनी सेना छिपी है, मिट्टीके नीचे कहां बारूद रक्खी हुई है, सब बता दिया।

स्वदेशद्रोही उन महापापियोंने मानसिंहको समझाया कि, इस समय प्रतापकी शक्ति दुर्बल है, थोड़े ही प्रयत्नसे उनका पराजय हो जायगा। फिर क्या था, दोनोंमें युद्ध आरम्भ हो गया। बहुत दिनोंतक घोर युद्ध होता रहा। स्वयं मानसिंहको कहना पड़ा कि,—

"मैंने बहुत युद्ध किया, मेरे विक्रमसे सारा भारत कम्पायमान है, परन्तु ऐसा युद्ध कभी नहीं देखा।"

प्रतापके बहुतसे सेनापति मारे गये। भारत-गौरव प्रताप, शङ्कर आदि वीरताके साथ शत्रुओंके कलेवरोंको रौंदते रौंदते शत्रुओं द्वारा निहत होनेपर अपने पार्थिव शरीरोंको पवित्र मातृभूमिकी गोदमें छोड़कर सूर्यमण्डलके पार हो, सकुशल स्वर्ग पहुंच गये। फिर वंग, विहार और उत्कल दासत्वश्रृङ्खलासे आबद्ध हो गया। क्या हिन्दु नृपपुङ्गवोंको मारकर अपनी जननी जन्मभूमिको शोभनक यवनोंके हाथ सौंप देनेसे ही मानसिंह अपनी सन्मान रक्षा और नाम की चरितार्थता हुई समझते थे? यदि यही हो, तो देशका दुर्दैव समझना चाहिये।

वीरवर बाजीराव पेशवा।

एक ओर अगाध पश्चिमी महासागर और दूसरी ओर गगनचुम्बी सह्य पर्वतके बीचमें स्थित 'कोंकण' प्रदेश, जो बम्बई प्रान्तके अन्तर्गत है, सृष्टि-सौन्दर्यसे बड़ा ही रमणीय है। यह भूभाग यद्यपि उर्वर (उपजाऊ) नहीं, तथापि जलवायु उत्तम होनेसे यहांके लोग बलवान्, बुद्धिमान, तेजस्वी, गोरे और सुन्दर होते हैं।

कोंकण छत्रपति श्रीशिवाजी महाराजके ही अधीन था। परन्तु उनके पश्चात् उनके पुत्र सम्भाजीका औरङ्गजेबके द्वारा लोमहर्षण-वध हुआ, पौत्र शाहू बन्दी बना लिये गये, कोंकणके अधिकांश भाग-पर बादशाही अमल हो गया। जबकी बात हम लिख रहे हैं, नवाब कासिम खाँ (सिद्दी सरदार) कोंकणका शासन करता था। जञ्जीरा उसकी राजधानी थी।

कोंकण प्रदेशके श्रीवर्द्धन नामक ग्राममें नितान्त तपोनिष्ठ जनार्दनभट्ट नामक ब्राह्मण रहते थे। उनके पुत्र परम विद्वान् और नीतिज्ञ विश्वनाथभट्ट हुए। जनार्दनभट्ट जञ्जीराधीशके अधीन रहकर श्रीवर्द्धनके 'देशमुख' (प्रधान अधिकारी) का कार्य करते थे। उनके पश्चात् विश्वनाथभट्टने भी वही कार्य किया। विश्व-नाथभट्टके जानूजी और बालाजी नामक दो पुत्र हुए। पिताके पश्चात् उनका कार्य-भार जानूजीने अपने ऊपर लिया और बालाजीने अपने पुरुषार्थसे 'चिपलुन' ग्रामके 'देशमुख' का पद प्राप्त किया। जञ्जीराके नवाबके साथ कान्होजी आंग्रे, जो शिवाजीके सामुद्रिक (जहाजी) विभागके अधिपति थे,-की लागडाँट बनी रहती थी।

जानूजी और बालाजी भीतर भीतर अंग्रेजोंसे मिले हुए हैं, इस सन्देह पर कासिमने जानूजीको जीतेजी एक सन्दूकमें बन्दकर समुद्रमें बहा दिया। बालाजीको इसका पता लगते ही वे सपरिवार रातोंरात भाग कर 'बैलास' ग्राममें अपने मित्र हरि महादेव 'भानु'के घर आ छिपे। इसी बीचमें सन् १६६६ में बालाजीके एक पुत्र हुआ, उसका नाम 'बाजीराव' रक्खा गया। इसके अतिरिक्त उन्हें एक और पुत्र हुआ, उसका नाम 'चिमणाजी' था। 'भानु'की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी। इस कारण बालाजी और भानुने सह्याद्रि लांघ कर किसी राज्यमें काम पानेके विचारसे सपरिवार यात्रा की। परन्तु मार्गमें ही कासिमके सरदारोंने दोनोंको कैद कर 'अञ्जन बेल'के किलेमें ला रक्खा। पासमें जो कुछ धन था, वह किलेके अफ़सरको दे, किसी प्रकार २५ दिनोंके बाद उन लोगोंने छुटकारा पाया। फिर वे वहांसे चलकर पूना जिलेके 'सासवड' ग्राममें आये और वहांसे अप्पाजी त्र्यम्बक पुरन्दरेकी सहायतासे शिवाजीकी राजधानी सातारामें पहुंचे। इस समय बाजीरावकी अवस्था केवल ४ वर्षोंकी थी।

शिवाजीके पश्चात् उनके छोटे पुत्र राजाराम राज्यके उत्तराधिकारी हुए। उन्होंने भी मुगलोंके छक्के छुड़ा दिये थे। परन्तु दुःख है कि, वे दीर्घायु नहीं हुए। सन् १७०० में उनका कैलासवास हो जानेपर उनकी रानी ताराबाईने अच्छे प्रधानोंके परामर्शसे उत्तम राज्य-प्रबन्ध किया, इस वीर वधूने वीरता और राजनीति-निपुणतासे मुगल साम्राज्यको दहला दिया। इसके राजत्वकालमें मराठोंका इतना तेज बढ़ा कि, उससे भयभीत हो, दिल्लीश्वरने शाहूको बन्धमुक्त कर, मराठोंको 'सरदेशमुख' का अधिकारपत्र दिया।

राजस्वविभागके मुखिया धनाजी जाधवकी अधीनतामें लेखकका काम बालाजीको मिल गया था। शाहूके स्वराज्यमें लौट आने-

पर महाराष्ट्र राज्यके उत्तराधिकारीके सम्बन्धमें ताराबाई और शाहूमें विवाद उपस्थित हुआ। सरदारोंमें दलबन्दी हुई। कुछ सरदार ताराबाई और कुछ शाहूकी ओर हो गये। धनाजी शाहूकी ओर थे। इस कारण उभयपक्षमें संग्राम होनेपर शाहू विजयी हुए और ताराबाईने सन् १७०७ में कोल्हापुरमें अपनी नयी राजधानी बसायी, जिसके आधीश्वर उनके पुत्र सम्भाजी हुए।

सन् १७१० में धनाजीका देहान्त होनेपर उनका पद बालाजीको मिला। इन्होंने कृषक, सैनिक, वाणिक आदि राज्यके स्तम्भ-स्वरूप समाजोंकी दशाका बहुत सुधार किया और राज्यको देखते देखते बहुत आय बढ़ा दी। उनकी प्रखर प्रतिभा और उन्नतिको देख सेनापति चन्द्रसेनराव मनही मन कुढ़ा करता था। एक दिन एकान्त बनमें अवसर पाकर चन्द्रसेनने शिकार खेलते समय बालाजीको पुत्रों सहित कैद कर लिया। बालाजीने उस समय अद्भुत रण कौशल दिखलाया, परन्तु सहस्रों वीरोंसे अकेला वीर कहाँ तक लड़ सकता? शाहुको इस घटनाका समाचार ज्ञात होते ही उन्होंने 'सर लश्कर' निम्बालकरको ससैन्य भेजकर चन्द्सेनके हाथसे बालाजीको छुड़ा लिया। विश्वासघातक चन्द्रसेन रणसे भाग कर प्रथम ताराबाई और फिर निज़ामसे जा मिला। अन्तमें वहीं उसने अपना नारकीय जीवन समाप्त किया। सेनापतिके शत्रुपक्षमें मिलनेके कारण बहुतसे सैनिक उसके साथ चले गये और शाहूकी सेना कृश हो गई। बालाजीने थोड़े ही दिनोंमें बुद्धि-कौशलसे नवीन सेना तैयार करली। इस प्रशंसनीय कार्यके उपलक्ष्यमें उन्हें 'सेना कर्ता' की उपाधि दी गई।

जो थोड़े मराठे सरदार ताराबाई या शाहू, किसीके पक्षमें नहीं मिले थे, उन्होंने स्वतन्त्र राज्य स्थापन करनेका उद्योग आरम्भ किया। ऐसे सरदारोंमें दामूजी थोरात, उदयजी चौहान, कान्होजी

आंग्रे, कृष्णराव खटावकर आदि प्रधान थे, इन लोगोंने केवल इधर उधरके किलोंको हस्तगत करके ही संतोष न मानकर छत्रपति शाहूकी राजधानीपर भी आक्रमण करना चाहा। शाहूने सचिव नारे शंकर, पेशवा भैरव पन्त आदि वीरोंको इन उपद्रवियोंका दमन करने भेजा, पर किसीसे कुछ न बना। उलटे ये लोग शत्रुओंके बन्दी हुए। अन्तमें बालाजीकी बारी आई। इन्होंने सङ्ग्राममें असाधारण पराक्रम दिखाकर पहिले सबको पराजित किया और पीछे शिवाजीके समयके उनके पूर्वजोंके अधिकार उन्हें शाहूसे दिलवादिये। इससे महाराष्ट्रमें शान्ति स्थापित हुई और उक्त वीरोंने बालाजीकी सहायतासे सिद्दी और मोगलोंके हाथसे अपने सब दुर्ग युद्ध कर लौटा लिये। इस अपूर्व विजयसे प्रसन्न हो, शाहूने बालाजीको 'पेशवा' पद पर प्रतिष्ठित किया। बालाजी 'श्रीमन्त बालाजी विश्वनाथ पेशवा' कहे जाने लगे। उनकी राजमुद्रा पर लिखा गया 'शाहू नरपति हर्ष निधान बालाजी विश्वनाथ मुख्य प्रधान' यह उच्च पद प्राप्त कर बालाजीने विपद्बन्धु पुरन्दरेको उपमन्त्री और भानुको 'फड़नवीस' (कोषाध्यक्ष) बनाया तथा अन्यान्य विश्वस्त सज्जनोंको भी उनकी योग्यताके अनुसार पद दिये।

दिल्ली दरबारमें इस समय बड़ी अव्यवस्था थी। औरङ्गजेबके पौत्र फरुखशिअर राज्यासनपर थे सही, उनके मंत्री सैयद अबदुल्लाखाँ और हुसेन अली खाँ, जिनके हाथके खिलौने शाहंशाह बन रहे थे, उन्हें पदच्युत कर महम्मद शाहको राज्यारूढ़ करना चाहते थे। यह भंडा फूटनेपर दरबारमें दो पक्ष हो गये। सैयदोंने शाहूसे सहायता चाही। शाहूने इस शर्तपर सहायता देना स्वीकार किया कि, नये बादशाह हमारा स्वराज्य मान्य करें और मराठोंसे छीने हुए सब भूभाग और दुर्ग स्वयं लौटा दें तथा

निज़ामको भी लौटा देनेकी आज्ञा करें। सैयदोंने शर्त स्वीकार की। १५ सहस्र सैनिक ले बालाजी दिल्ली पहुंचे। मराठोंके सामने फरुखशिअरकी सेना ठहर नहीं सकी। इसी युद्धमें फरुखशिअर मारा गया और महम्मदशाह बादशाह बना। मराठोंकी इस कृपाके बदले महम्मदके पक्षपाती मुसलमानोंने विश्वासघात कर खरे दरबारमें मराठे सरदारोंपर आक्रमण किया। मराठे फिर उमड़े, पर महम्मदने बहुतसी सम्पत्ति दे, समझा बुझाकर मराठोंको किसी प्रकार लौटा दिया। शाहू छूटे थे, पर उनकी माता और परिजन दिल्लीमें बन्दी ही थे। उन्हें बालाजी छुड़ाकर अपने साथ लिवा लाये। सन् १७१८-१९ की इस दिल्ली यात्रामें बाजीरावभी बालाजीके साथ थे।

दिल्लीपतिसे पाई हुई सनदके अनुसार बालाजीने मुसलमानोंसे अपने सब दुर्ग और प्रान्त छीनकर महाराष्ट्र राज्यमें मिला लिये। खानदेश और बालाघाट प्रान्तपर वे पहिले ही अधिकार कर चुके थे। यों पुनः कृश महाराष्ट्र स्वराज्य संस्थापनासे पुष्ट हो गया। शाहूने पूना तथा बरारके कुछ भागका बालाजीको अधीश्वर बना दिया और अनेक प्रकारसे पुरस्कृत किया। बालाजी सपरिवार सासवड़में रहने लगे और वहीं सन् १७२० में उनका परलोकवास हुआ। विलासप्रिय मुसलमानोंमें प्रतिपालित होनेके कारण शाहू भी बड़े विलासी हो गये थे। उन्हें यदि बालाजी जैसे योधा और राजनीतिचतुर पुरुषकी सहायता न मिलती, तो महाराष्ट्र कदापि स्वतंत्र न हो सकता। इतिहासोंमें स्वदेशोद्धारक रूपसे श्रीशिवाजीके पश्चात् बालाजीको ही स्थान दिया गया है।

नौ वर्षोंसे ही पिताके साथ रहकर अनेक रणकौशल और राजनीतिके दाँवपेंच बाजीरावने सीख लिये थे। कहीं कहीं पिताकी आज्ञासे स्वतन्त्ररूपसे युद्ध कर उन्होंने विजय पायी थी।

खानदेश और बरारके भूभाग पर बाजीरावकी ही वीरतासे बालाजीका आधिपत्य हुआ था। उनके विविध गुणोंको देख, शाहूने उन्हींको बालाजीका पद सन् १७२० में बड़े समारोहके साथ दिया। इधर बालाजीका देहान्त होते ही दिल्ली दरबारमें आनन्दकी तरंगे उठने लगीं। कई सरदार पुनः महाराष्ट्रको हस्तगत करनेपर उद्यत हुए। मीर कमरुद्दीन नामक सरदारने बादशाहसे बहुतसी उपाधियां, सम्मान और सेना प्राप्त कर मालवेपर चढ़ाई की। पहिले तो वह मालवेका सूबेदार बनाकर भेजा गया था, पर पीछेसे दक्षिण भारतमें भी उसने अपना अधिकार जमा लिया। फरुखसियरके समयमें वह 'निज़ाम उलमुल्क' (राज्यकी व्यवस्था रखनेवाला) था, सो दक्षिणमें आनेपर भी इसी नामसे विख्यात हुआ। अब वह दिल्लीश्वरके अधीन न रहकर स्वतन्त्र हो गया। बादशाहने इसे दबानेके लिये कई सेनापति भेजे, पर वे इससे हार गये। अन्तमें सैयद-बन्धुओंको साथ लेकर स्वयं बादशाह आया, पर उसे भी युद्धमें इससे हारना पड़ा और सैयद-बन्धु निहत हुए। बादशाहने इसे अपना वजीर बनानेके लिये राजधानीमें बुलाया, पर वह नहीं गया। बाजीरावने राज्यसूत्र अपने हाथ लिये, उस समय यही निज़ाम उनका प्रबल शत्रु था। इसने बादशाही सनदसे मालवा और खानदेशमें राजस्व ग्रहण करनेका जो मराठोंका हक था, उसमें बाधा की, इस कारण सन् १७२३ में बाजीरावने इसका दमन कर अपना अधिकार सुरक्षित कर लिया।

दो वर्ष बाद फिर नयी सेनाका सङ्गठन कर शाहूकी आज्ञासे, बाजीरावने मल्हारराव होलकर, गोविन्द पन्त बुँदेला, उदयजी प्रमार, राठोरजी सेन्धिया आदि वीरोंसहित पुनः मालवेपर चढ़ाई की। इस लड़ाईमें विजयी होकर बाजीरावने मालवेपर पूरा अधिकार कर लिया। उन्हें मालवेमें सोना, चांदी, जवाहिरात बहुत ही

मिला और यवनशासकोंसे पीड़ित मालवीय प्रजा भी बाजीरावके सद्व्यवहारसे बहुत प्रसन्न हुई। बाजीरावने जब उत्तर-हिन्दुस्थान-पर चढ़ाई करनेका प्रस्ताव दरबारमें उपस्थित किया, तब उनके प्रतिस्पर्धी प्रतिनिधि महाशयने 'हम असमर्थ हैं' कह कर बहुत प्रतिवाद किया, पर बाजीरावके ओजस्वी भाषणसे दरबारका भ्रम मिट गया और दरबारने चढ़ाई करनेकी अनुमति दे दी। बाजीराव विजयी हुए जान, प्रतिनिधि महाशय अपना सा मुँह लेकर रह गये। यद्यपि प्राचीन समयसे लूटमें मिली सम्पत्तिमेंसे कुछ भाग देनेका अभिवचन दे, मराठे सैनिक स्थायीरूपसे रक्खे जाते थे, उस प्रथाको बन्द कर बाजीरावने प्रथमसे ही ऋण लेकर सबको वैतनिकरूपसे नियुक्त कर दिया था, तथापि मालवेके युद्धमें दिखाये हुए पराक्रमसे प्रसन्न हो, मालवेका राजस्व २२॥) सैकड़े सिन्धियाको २२॥) सैकड़े होलकरको और १०) सैकड़े पमारको वसूल करनेका उन्होंने अधिकार दे दिया था।

सन् १७२६ में बाजीरावने कर्नाटक प्रान्तपर विजयलाभ किया, जिससे निजामपर उनकी धाक जम गयी। कर्नाटकसे लौटकर बाजीराव गुजरात और उत्तर-भारतमें महाराष्ट्र राज्य-विस्तारके लिये चले गये। यह देख निजामको इस कारण प्रसन्नता हुई कि, उसे सेना-संग्रह और राज्यप्रबन्धके लिये अवकाश मिल गया। बाजीराव राजधानीमें नहीं और शाहू तथा उनके मंत्री दूरदर्शी नहीं, यह देख निज़ामने एक चाल चली। उसने शाहूके निकट प्रस्ताव किया कि, यदि महाराष्ट्रपति हमारे राज्यका राजस्व ग्रहण करनेका हक छोड़ दें, तो मैं इन्दापुर नगर, उसके आसपासके कई परगने और कई करोड़ रुपये नज़र दूंगा। प्रतिनिधि (मंत्री) को बरार प्रान्त देनेका लोभ दिखाकर निजामने वश कर लिया था, इस कारण उनके कहनेसे शाहूने निजामका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। पर

बाजीरावके लौट आनेपर उनके समझानेसे कि, ऐसा करनेसे महाराष्ट्रका सार्वभौमत्व क्षीण हो जायगा, शाहूने प्रस्ताव अस्वीकृत किया। यह चाल खाली गई जान, निजामने दूसरी चाल चली। कोल्हापुराधिपति सम्भाजीको अपनी ओर मिलाकर शाहूसे कहला भेजा कि, आप और सम्भाजी दोनों अपने आपको महाराष्ट्रपति मानते हैं। इनमेंसे जबतक यह निर्णय नहीं हो जायगा कि, कौन सच्चा महाराष्ट्रपति है, मैं अपने राज्यका राजस्व नहीं दूंगा। बाजीरावने उत्तर दिया, हम बादशाहसे सनद पा चुके हैं, इस कारण शाहू ही महाराष्ट्रपति हैं। आप महाराष्ट्रपतिका निर्णय करनेवाले कौन होते हैं? निजाम नहीं माना और बाजीरावसे युद्ध करनेको प्रस्तुत हो गया। सम्भाजी भी निज़ामकी ओरसे लड़ने आये थे। युद्ध छिड़ गया। इस युद्धमें निजामकी बहुत ही हानि हुई। खण्ड युद्ध करते हुए औरङ्गाबादमें निजामको रोक-कर बाजीराव एकाएक गुजरात चले गये और वहांसे बहुत धन लूट ले आये। बाजीराव सेनामें नहीं हैं जान, निजाम पूना नगरी-को ध्वस्त करने बढ़ा, पर बीचमें ही बाजीरावने उसे पछाड़ मारा। अन्तमें निजामको बाजीरावसे सन्धि करनी पड़ी। उदार बाजी-रावने भी कई किले और कई करोड़ रुपये लेकर निजामको छोड़ दिया। सन्धिपत्रमें यह भी लिखा गया कि, पूर्वपरम्परानुसार शाहू निजामसे राजस्व ग्रहण किया करें और निजाम सम्भाजीका पक्ष छोड़ दें।

इसके पश्चात् महम्मद खाँ बङ्गश द्वारा महाराज छत्रसाल जब जर्जर हुए, तब उन्होंने बाजीरावको यह दोहा लिखकर—

> जो गति ग्राह गजेन्द्रकी सो गति भइ है आज ।
> बाजी जात बुँदेलकी बाजी राखो लाज ॥

सहायताके लिये बुलाया। बाजीरावने दौड़ आकर बङ्गशके कैसे दाँत खट्टे किये और छत्रसालने उनका कैसा आदर किया, सो छत्रसालके चरित्रमें लिखा ही गया है। इतिहासमें यह भी लिखित है कि, स्त्रीरूप धरकर बङ्गशने बाजीरावसे क्षमा मांगी, तभी उन्होंने उसे छोड़ा था। छत्रसालने अनेक धन रत्नोंके साथ यावनी उपपत्नीसे हुई अपनी अतुलरूपयौवनशालिनी कन्या मस्तानी भी बाजीरावको दी थी। उससे उन्हें समशेर बहादुर नामक पुत्र हुआ, जो १७६१ ईस्वीमें मराठोंकी ओरसे लड़कर पानिपतके युद्धमें मारा गया। उसका पुत्र अली बहादुर भी बड़ा वीर हुआ। उसने बुँदेलखण्डमें अपना दबदबा जमाकर ७५ लाख वार्षिक आयका प्रान्त हस्तगत किया और बाँदेमें अपनी राजधानी बसाई। इसके वंशज बाँदेके नवाब कहलाते हैं। इन्होंने झाँसीकी रानीको युद्धमें अच्छी सहायता दी थी। अन्तमें मस्तानीने बाजीरावके साथ चितामें जलकर अपने सती होनेका प्रमाण दिया था।

सन् १७२६में बाजीराव अपने भाई चिमणाजी अप्पा, पिलाजी गायकवाड़, त्र्यम्बकराव दाभाडे (सेनापति) आदिको साथ लेकर गुजरातपर चढ़ गये और उन्होंने वहांके सूबेदार बुलंदखांको हराकर अपना प्रभुत्व गुजरातपर जमा लिया। गायकवाड़, दाभाडे आदि लूट पाटके पक्षपाती होनेके कारण सूबेदारके साथ की हुई बाजीरावकी सन्धि उन्हें नहीं रुची। दोनों बाजीरावके शत्रु हुए। निजाम भी उनसे मिल गया। सबने मिलकर बाजीराव-से युद्ध करना स्थिर किया। सन् १७३१ में तुमुल युद्ध हुआ। दाभाडे मारे गये, गायकवाड़ बन्दी हुए, सेना भाग गई और दोनों ओरके असंख्य वीरोंने रणभूमिमें प्राण समर्पण किये। बाजीरावका संकट टला। अब वे निजामका बदला चुकाने चले, पर निजामने उनका दक्षिण देशका आधिपत्य स्वीकार कर बिला तकाज।

राजस्व देने और पुनः कभी उनसे छेड़ छाड़ न करनेका अभिवचन दे, किसी प्रकार जान छुड़ाई। दाभाडे प्रति वर्ष ६०—७० हजार रुपये विद्वानों और वैदिकोंको वेद-शास्त्रोन्नतिके उद्देश्यसे परीक्षा लेकर दान करते थे। उनके देहान्तसे वह दक्षिणा रुक गयी थी, सो बाजीरावने पुनः शुरू की। बाजीरावके पुत्र बालाजीके समय तो इस दक्षिणाकी रकम ६— ७ लाख तक पहुंच गई थी। अङ्गरेजों-के हाथ महाराष्ट्रके आनेपर १८५१ ई० तक दक्षिणाका सिलसिला चलता रहा, पर पीछे उस दक्षिणानिधिकी सुरक्षाके लिये 'दक्षिण-प्राइज कमेटी' कायम कर दी गयी। यह कमेटी उस निधिके सूद-से प्रतिवर्ष मराठी मौलिक नये ग्रन्थोंके लेखकोंको ५०) से ५००) तक पुरस्कार दिया करती है। अस्तु, राजधानीमें लौट आनेपर शाहूने बाजीरावका बहुत आदर किया। शाहूकी बिचवईसे गाय-कवाड़ और दाभाडेके पुत्र यशवंतरावके साथ बाजीरावकी मित्रता स्थापित हुई। यशवंतराव सेनापति बनाकर गुजरात भेजे गये। वहांसे आधा राजस्व वे और आधा बाजीराव भेजें, तथा बाजीराव मालवेके पूर्ण अधिकारी हों, यह निश्चित हुआ। इसी अवसर-पर गायकवाड़को 'सेना खास खेल'की उपाधि दी गयी, जो अबतक बड़ोदानरेशके नामके साथ लगाई जाती है। इस बीचमें जंजीरेके सिद्दियोंने बड़ा उपद्रव मचा रक्खा था। यवनोंके बलप्रयोगसे हिन्दु 'त्राहि भगवन्' कहकर कण्ठशोष कर रहे थे। शाहूके कई सेनापति गये, पर सिद्दियोंका दमन न कर सके। अन्तमें १७२६ में बाजीरावने जाकर उनका पूरा दमन किया और रायगढ़ आदि किले उनसे छीनकर अपना राजस्व-ग्रहणका अधिकार स्थापित किया। हिन्दु प्रजा सुखी हो गयी।

महम्मदशाह बड़ा ही अत्याचारी था। उसने राजपूताना मालवे में 'जजिया कर' बैठाकर तथा अन्य रीतिसे भी हिन्दुओंको बहुत कष्ट

पहुंचाये। इस कष्टसे उद्धार पानेके लिये सवाई जयसिंह (जयपुर-नरेश) और मालवेके प्रमुख ठाकुरोंने बाजीरावको निमन्त्रित किया। बाजीरावने मल्हाररावपर यह काम छोड़ा। मल्हाररावने सन् १७३२ में सूबेदारको तीन हजार वीरोंसहित मारकर मालवेपर अधिकार कर लिया। बादशाहने महम्मदखां बङ्गशको सूबेदार बनाकर भेजा, पर वह भी जब हार गया, तब जयसिंहको बादशाहने सूबेदार बनाया। जयसिंह बाजीरावके घनिष्ठ मित्र हो गये थे, उनके रणकौशलको जानते थे, इससे बाजीरावके साथ वैर न बांधनेका उन्होंने बादशाहको परामर्श दिया और बादशाहने भी मान लिया। बाजीराव मालवेन्द्र हुए सही, किन्तु बादशाह उन्हें सनद नहीं देता था। यही नहीं, गुजरात प्रान्तकी सनद भी उसने रद्द कर दी। इससे चिढ़कर बाजीरावने सिन्धिया और होलकरको आगरा और दिल्लीतकके नगर लूटनेकी आज्ञा दे दी। बादशाहने चिन्तित हो, सन्धिका प्रस्ताव किया कि, राजपूतानेमें ५—६ करोड़की वसूली बाजीराव कर सकेंगे। बाजीरावने आपसमें लड़ानेकी यह चाल ताड़ ली और सन्धि स्वीकार नहीं की। उलटे बड़ी सेना ले, दिल्लीपर चढ़ाई की। इस युद्धमें बादशाही सेनाकी बड़ी हानि हुई और मराठोंके हाथ बहुतसे हाथी, घोड़े, शस्त्र, रत्न आदि लगे। अन्तमें बादशाहको सन्धि करनी पड़ी। बाजीरावको मालवा और गुजरातका एक छत्र अधिकार तथा युद्धके व्ययके १३ लाख रुपये नगद मिले। लौटते समय बाजीरावने गङ्गा-यमुनाके बीचकी अन्तर्वेदीमें अपना अधिकार स्थापन करते हुए कई विपक्षके राजपूत राजाओंको भी हराया और उनसे विपुल सम्पत्ति ले, कोङ्कणमें फिरङ्गियोंका दमन करनेको प्रस्थान किया।

सन् १७३८ में निजामको बाजीरावसे छेड़छाड़ करनेकी पुनः

सूझी । बादशाहने साथ दिया । गुजरात, मालवा आदि प्रान्तोंकी बाजीरावको दी हुई सनदें रद्द कर, निज़ामके पुत्र तथा अन्य मुसलमान सरदारोंको वहांकी सूबेदारी दी गई। अबकी बार दिल्लीश्वर और निज़ामके पक्षमें कितने ही हिन्दु नरपति,—यहां तक कि, महाराजा जयसिंह भी आ मिले थे। अयोध्याके नवाब २० हजार सेना लेकर निकले थे। बाजीरावने भी सबसे लड़नेका निश्चय किया। कोंकण-वसई प्रान्तके फिरंगियोंके शासनका भार चिमणाजी अप्पापर छोड़, वे बड़ी भारी सेना ले, रवाना हुए। भोपालके निकट दोनों दलोंकी मुठभेड़ हुई। २४ दिनोंतक युद्ध होता रहा। बादशाही सेना हारकर भाग निकली। राजपूत और अन्य हिन्दु नृपति भी तितर बितर हो गये। अयोध्याके नवाबका तो पता ही नहीं लगा। बाजीरावकी सेनाने निज़ामको चारों ओरसे ऐसा घेर लिया कि, वह दल-बलसहित भूखों मरने लगा। उसने बादशाह और अपने पुत्रसे सहायता चाही, पर बादशाहने तो डरके मारे सेना नहीं भेजी और पुत्र नासिरजंगको चिमणाजीने बीचमें ही सेनासमेत रोक लिया। अन्तमें निजाम बाजीरावके शरणापन्न हुआ। बाज़ीरावने अपने पुराने मालवा, गुजरात आदि सब प्रान्त, दुर्ग और बहुतसे नये परगने दिल्लीश्वर तथा निजामसे छीनकर सनदें लिखा लीं और युद्धका पूरा हर्जाना ले, निजामको छोड़ दिया। इसी अवसरपर नादिरशाहने दिल्लीपर चढ़ाई की और प्रसिद्ध 'मयूर सिंहासन', ३१ करोड़ रुपये तथा बहुतसे रत्न लेकर वह लौट गया। वह यदि दक्षिणमें आता, तो उसकी गरमी उतारनेका बाजीरावने पूरा प्रबन्ध कर रक्खा था, पर वह आया ही नहीं। निज़ामके देहान्तके पश्चात् १७४० ई० में नासिरजंगने फिर शिर उठाया था, इस समय भी बाजीरावसे उसे हारना पड़ा। इस युद्धमें बाजीरावको खानदेश मिला। कोंकणमें बहुतसे किले चिमणाजी

और आंग्रेने पुर्तगीजोंसे छीन लिये थे। शेष भाग बाजीरावने हस्तगत किया। केवल गोवा प्रान्त कुछ शर्तोंपर उनके पास रहने दिया। बाजीरावके इस पराक्रमसे उस भूभागकी प्रजा, जो सैकड़ों वर्षोंसे अनेक प्रकारसे सतायी जा रही थी, परम प्रसन्न हुई।

बाजीरावके बालाजी और राघोबा नामक दो प्रचण्ड वीर पुत्र हुए। उन्होंने भी इतिहासोंमें उत्तम स्थान पाया है। दिल्लीसे कर्नाटक और द्वारकासे काशीतक बाजीरावने महाराष्ट्रके राज्यका विस्तार कर दिया था। उनके पुत्रों और मित्रोंने अटकसे कटकतक मराठोंका गेरुआ झण्डा फहरा दिया। इसी कार्यको पूरा करने, जो उनके पुत्रों और मित्रोंने किया, बाजीराव उत्तरकी ओर जा रहे थे कि, बीचमें नर्मदा नदीके तटपर अकस्मात् ज्वराकान्त होने-से ४१ वर्षोंकी अवस्थामें ही सन् १७४० की अप्रेलको उनका देहान्त हो गया। उनके देहावसानका समाचार सुन, सारा महाराष्ट्र शोक सागरमें डूब गया। उनकी वीरता और राजनीति चातुरी-का स्मरणकर वीर शत्रुओंकी आंखोंसे भी दो आंसू टपक पड़े। उनकी सादी रहन सहन, स्वार्थत्याग, सहिष्णुता, साम्राज्यविस्तार-की लालसा और धार्मिकताका इतिहासोंमें बहुत वर्णन किया गया है। शनिवार वाड़ा पूनेमें बनवाकर वहीं उन्होंने अपनी राजधानी बसायी थी। वास्तवमें वे ही सच्चे महाराष्ट्रपति थे, किन्तु उन्होंने शाहूको ही आजन्म छत्रपति माना। पेशवाके समयमें पूना-की श्री देख, अंगरेज प्रेक्षकोंने उसे नन्दन वनकी उपमा दी थी।

—०*०—

नरवीर बापू गोखले।

यूरोपमें महायुद्ध आरम्भ होनेपर हमारी सरकारके वर्तमान अधिकारीगण जिस भारतवर्षसे पांच पचास लाख सिपाही भी एकत्र नहीं कर सके, उसी भारतवर्षमें सौ डेढ़ सौ वर्षोंके पहिले तक ऐसे असंख्य नरवीर भरे पड़े थे, जिन्हें देखकर कृतान्त भी कांप उठता था। भारतीय रणशूरोंकी वह परम्परा यदि अभीतक ज्योंकी त्यों बनी रहती, तो जर्मनोंके दांत खट्टे करना हमारी सरकारके लिये कौन कठिन काम था? मराठोंका कीर्तिरबि जब उदयोन्मुख था, तबकी बात हम नहीं कहते, हम आज उस समयके एक नरवीरकी कहानी कहेंगे, जिस समय महाराष्ट्रका भाग्यरवि अस्ताचलकी ओर कूच कर रहा था और ब्रिटिश लक्ष्मीरूपी चन्द्रमाके किरण भारतवर्षकी दिव्यभूमिमें मुकुलित कुन्दकुसुमोंकी तरह अपनी आभा फैला रहे थे। उस नरवीरका नाम बापू गोखले था। जिसका पाठशालाओंमें पढ़ाये जानेवाले अंग्रेजोंके लिखे हुए आजकलके इतिहासोंमें प्रायः उल्लेख तक नहीं है।

कोंकण प्रान्तमें राजापुर तहसीलके अन्तर्गत 'तलेखांजन' नामक ग्राम है। वहांके ब्राह्मण जमीनदार बल्लालपन्त गोखलेको दुण्ढिराज और गणेश नामके दो पुत्र हुए। दुण्ढिराजके सन्तान नहीं थी। गणेशके दो पुत्र थे, पहिले अप्पाजी और दूसरे बापू। पेशवाओंका राज्यकार्य उस समय इतिहासप्रसिद्ध दीवान नाना फड़नवीस देखते थे। गणेशपन्त अपनी जमीदारी सम्हालते थे और उनके दो पुत्र तथा भ्राता दुण्ढिराज अपने सिपाही बानेके प्रबल पराक्रमसे पेशवाओंके दरबारमें सरदार बन गये थे। दुण्ढि-

राज पहिले 'विजयदुर्ग' के नायब सूबेदार थे, परन्तु दो भतीजोंके सहायतासे 'कोलवण' प्रान्तका बलवा मिटा देनेके कारण नाने फड़नवीसने उन तीनों बहादुरोंको सरदार बना दिया।

कर्नाटकमें 'कितूर' के देसाइयोंने बड़ा उपद्रव मचा रक्खा था। उनका दमन करनेके लिये उक्त तीन वीरोंकी नियुक्ति हुई। तीनोंने बलवाइयोंका बड़ी वीरताके साथ दमन किया। इस कारण दरबारमें तीनोंका बड़ा ही आदर बढ़ गया। अब दुण्ढि-राज तथा अप्पाजीको दरबारने अपने पास बुला लिया और कर्नाटकका काम अकेले बापूपर छोड़ दिया। बापूने इस अवसरमें करवीरके राजा तथा टीपू आदि देशद्रोहियोंको अपना अच्छा प्रताप दिखाया और शत्रुओंसे भी वाहवाही प्राप्त की। वसईमें पेशवाओंकी अंगरेजोंके साथ सुलह होनेपर जब अङ्गरेज पेशवाओंको पुनः पूनेमें ले आये, तब सिन्धिया, होल्कर, भोसले आदिसे बापूने ही सामना कर विजय प्राप्त किया था।

'दुण्ढीवाघ' नामक एक मराठा वीर टीपूके पास था। उसके बलकी प्रशंसा उसे 'राक्षस' कहनेहीसे पूर्ण हो सकती है। वह किसी कारणसे मुसलमान हो गया था, और खुदको टीपूका बेटा कहा करता था। बापूने दुण्ढिराज और अप्पाजीकी सहायतासे टीपूको हराया था और अङ्गरेजोंने टीपूके मरनेपर उसका राज्य अपने राज्यमें मिला लिया था। इसीसे चिढ़ कर 'दुण्ढी' अङ्गरेज और मराठे दोनोंको बहुत सताता था। उसका दमन करनेके लिये अङ्गरेजोंकी ओरसे वेल्सली साहब और मराठोंकी ओरसे दुण्ढिराज, अप्पाजी और बापू रवाना हुए। 'हल्याल' नामक स्थानमें दोनों दल एकत्र होकर 'दुण्ढी' पर धावा करनेवाले थे। परन्तु हल्याल-से दो कोस इधर ही एक नालेमें मराठोंकी एक तोप अड़ गई। 'दुण्ढी'ने प्रण किया था कि, 'आज सूर्यास्तके पहिले यदि मैं

दुरिढराजका रक्तप्राशन न कर सका, तो आत्महत्या करूंगा।' मराठे बड़े पेंचमें आ गये। दुरिढराजने १०।२० सिपाही साथ रखकर अपनी सेना हल्यालकी ओर रवाना कर दी और वे स्वयं तोप-को ठीकठाक करने लगे। यह अवसर अच्छा जानकर 'दुरढी' एक-दम दुरिढराजपर विशाल सेनाको साथ लेकर आ टूटा। बापू तुरन्त 'डुरढी' पर शेरकी तरह झपटे, परन्तु प्रचण्ड सेनाके आगे अकेले बापू क्या कर सकते थे? ढाई घण्टेतक बापूने युद्ध कर अनेक पठानोंको परलोकका रास्ता बताया, परन्तु अन्तमें उनके सिरपर एक ऐसा शत्रुका वार लगा कि, जिससे वे मूर्छित हो गये। यह तमाशा दुरिढराज दूरसे देख रहे थे। जब उन्होंने देखा कि, बापू मूर्छित हो गये हैं और 'दुरढी' विश्राम कर रहा है, तब तुरन्त ही उन्होंने बापूको उठाकर अपने सिपाहियों द्वारा हल्यालकी ओर रवाना किया और स्वयं लड़नेके लिये 'दुरढी' को आह्वान किया। 'दुरढी' के प्रायः सभी जवान दुरिढराजके हाथों मारे गये थे। अब 'दुरढी' भागनेको ही था कि, इतनेमें दुर्भाग्यवश दुरिढराजकी गर्दन एक पेड़की शाखामें अड़ गयी। उनका घोड़ा वेगमें था। वह आगे बढ़ा, और दुरिढराज भूमिपर गिर पड़े। बस, फिर क्या था? 'दुरढो'ने उसी समय दुरिढराजका सिर धड़से जुदा कर दिया और नरपिशाचकी तरह उनका रुधिर आकण्ठ पान किया। 'दुरढो' का सारा शरीर रक्तसे तराबोर हो रहा था। वह ऐसा भयानक दृश्य था, जिसे देखना दूर है, सुनकर ही हृदय कांप उठता है।

अप्पाजी दुरिढराजको बचाने गये, परन्तु वे भी थोड़े ही समय-में मारे गये। उनके रक्तसे 'दुरढी'ने अपनी मोछें रंगी और वह विजयकी खुशी मनाता हुआ अपने खेमेमें लौट आया। बापू सुरक्षित घर पहुँच गये थे; पर सिरके वारकी पीड़ा उन्हें असह्य

हो रही थी। दुण्ढिराज और अप्पाजीकी मृत्युकी वार्ता जब बापूको सुनाई गई, तब दुण्ढिराजकी पत्नी बापूके निकट ही बैठी थी। उसपर मानो आकाशसे वज्र टूट पड़ा! एक मुहूर्ततक वह निस्तब्ध रही! दूसरे ही मुहूर्तमें सतीत्वके तेजसे तेजस्विनी वह देवी बोलीः—"उन मराठोंको धिःक्कार है, जो मराठोंके रक्तसे उत्पन्न होकर मराठोंके ही गलोंपर छूरी रेतनेके लिये तैयार हो जाते हैं! मेरे पतिने रणगङ्गामें धर्म और देशके लिये देह विसर्जन कर अपने सप्त पुरुषोंका उद्धार किया है। बेटा अप्पाजी! अब तू फिरसे कब मिलेगा? मुझे अब प्रेमसे 'चाची' कहकर कौन पुकारेगा? जाओ, दोनों अपने धर्मके लिये, देशके लिये, और मराठोंके रक्तकी लज्जा बचानेके लिये उस दयामय दीनबन्धुके पास चले जाओ, और उसी सर्वमंगल परमात्मासे कहो कि, जिस भूमिमें देशद्रोही मनुष्य उत्पन्न हो सकते हैं, वहांपर हमें पुनः जन्म मत दो। प्राणेश्वर! इस भूलोककी चिन्ता न करो। आप तो कहते थे कि, 'मेरा तुझपर विश्वास है।' भगवन्! मैं वीरपत्नी और वीरमाता हूं। मैं विश्वासघात कभी न करूंगी, ऐसी शक्ति मुझे प्रदान करो। हा! जिस कोमल बच्चेको मैंने दूध पिलाकर पाला पोसा, छोटेसे बड़ा किया, उसीको उस नराधमने निर्दयताके साथ काट डाला? क्या उस नरपशुके हृदयमें ऐसे सुकुमार बालकके निर्विकार मुख-को देखकर मोह उत्पन्न नहीं हुआ? अथवा मैं क्या सोच रही हूं? देशद्रोही क्या काम नहीं कर सकते? जो हो, महाराष्ट्रमें अब एक भी देशद्रोही जीवित नहीं रहना चाहिये। तभी तो देशके लिये आनन्दसे प्राणविसर्जन करनेवालोंको मुक्ति मिलेगी? यदि एक भी देशद्रोही बच रहा, तो इस भूमिमें प्यारा अप्पाजी और प्राणेश्वर पुनः नहीं मिलेंगे। वे गये, जाने दो। उनका शेष काम हमें करना चाहिये। तभी हमें उनके सच्चे सम्बन्धी होनेका

अधिकार प्राप्त होगा। सर्वशक्तिमान् भगवान्‌का स्मरण कर आज मैं यही प्रतिज्ञा करती हूं कि, जबतक उस दुष्ट 'दुण्ढो'का सिर नहीं उतार लिया जायगा, तबतक मैं अपने प्रिय प्राणेश्वरका अन्तिम संस्कार नहीं करूंगी। अप्पा! बेटा अप्पा!! प्यारा अप्पा!!!"

एकदम उठकर साक्षात् रणचण्डी दुर्गाके समान उसने तलवार खोली और वह ज्यों ही बाहरकी ओर बढ़ने लगी, त्यों ही दुःखित और उद्विग्नचित्त बापूने उसके पैर पकड़ लिये। बापूके मुँहसे 'मा!' के सिवा कुछ नहीं निकला। बापूके सिरके घावसे खून चू रहा था। उसकी परवाह न कर वे तुरन्त घोड़ेपर सवार हुए और 'कातोल भानु' नामक स्थानमें शीघ्र ही जा पहुंचे। 'दुण्ढी' साथियोंसे अपनी वीरताकी बड़ाई हाँक रहा था। बापूको सिंहकी तरह झपटते देख, वह एक बार डरा और फिर उछल कर बापूका सामना करनेके लिये तैयार हो गया। बापू मारे क्रोधके कांप रहे थे। बापूके पहिले वारसे दुण्ढीके पैर कट गये। 'दुण्ढी' ने गरज कर कहाः-'अब मुझे न मारो, मैं आप मर जाऊंगा। तुम कौन हो?' बापूने उत्तर दिया कि 'मैं तेरा वही कृतान्त काल बापू हूं। और अपनी माताकी पूजाके लिये—उसके चरणोंपर अर्पण करनेके लिये—तेरा सिर काट रहा हूं। अरे पापी! मराठोंके वंशमें उत्पन्न होकर तूने निर्दयताके साथ ब्राह्मणका रक्तपान किया, इसका फल तू कहाँ भोगेगा?' 'दुण्ढो'ने गिड़गिड़ा कर कहाः—'बापू क्षमा करो।' बापूने यह कह कर उसका सिर उतार लिया कि 'अरे दुष्ट! तुझे क्षमा करनेकी शक्ति मुझमें नहीं,भगवान्‌में है। उसीका हृदयसे स्मरण कर!' बापूने 'दुण्ढी'का सिर लाकर चाचीके चरणोंमें अर्पण किया और तब अपने बन्धु तथा पितृव्यका अन्तिम सत्कार किया। अपने पूर्वजोंकी प्रतिज्ञा पूरी करनेवाले बापू जैसे कितने सुपुत्र होंगे?

औंधके राजाने पेशवाओंके विरुद्ध बलवा किया था। उन्होंने कर देना बन्द कर दिया। उनका दमन करनेके लिये भी बापूकी ही नियुक्ति हुई। बापूने औंधपतिको पकड़कर 'मसूर'के किलेमें नजरबन्द कर दिया। उनकी दो स्त्रियों और माताका भी उत्तम प्रबन्ध किया। औंधपतिकी एक उपपत्नी थी। वह बड़ी बीर थी। उसने अपने स्वामीको बन्धमुक्त करनेका प्रण कर सेना तैयार की। इस बातका पता किसीको नहीं था। उसकी सेनाने किलेपर चढ़ाई की और विजय प्राप्त कर वह स्वामीको प्रतिज्ञानुसार छुड़ा लाई। पुनः दरबारसे बापू भेजे गये। बापूने उसकी सेनाको हराकर पुनः औंधपतिको पकड़ कर पूनेमें ला रक्खा। फिर भी वह स्त्री शान्त नहीं हुई। उसने पेशवाओंके राज्यमें पुनः उपद्रव मचाना आरम्भ किया। पुनः बापू उसका दमन करनेके लिये चले। अबकी बार बापूको आठ महीनोंतक लड़ना पड़ा। अन्तमें उस वीर नारीके सब लोग मारे गये और वह बांधी गयी। पेशवाईका अन्त हुआ, तबतक औंधपति और उनकी उपपत्नी दोनों नजरबन्द थे। बापू दोनोंका बड़ा आदर करते थे। बापूके साथ लड़कर औंधपतिका एक हाथ कट गया था; इससे उन्हें लोग ठूंठे राजा कहा करते थे। इसी तरह 'जेजूरी'में 'रामोशी' लोगोंने बलवा किया था। उनका भी दमन बापूने ही किया था।

बापूका शरीर ऊंचा पूरा और भव्य था। शरीरकी गठन सुदृढ़, सुडौल और रङ्ग गोरा था। चेहरा सुन्दर, गर्दन ऊंची और नेत्र कमलपत्रके समान विशाल थे। दुण्ढीके साथ युद्ध करनेमें उनके एक नेत्रमें शस्त्रका चिन्ह हो गया था। वे घोड़ेपर चढ़नेमें बड़े निपुण और देखनेमें तेजस्वी थे। उत्तम सेनापतिके लिये जो गुण होने चाहिये; वे उनमें पूर्णतया नहीं थे, परन्तु उनका सिपाही

बाना अद्वितीय था। शत्रुको देखते ही वे एकदम उसपर ऐसे टूट पड़ते थे कि, फिर उन्हें अपनी सेनाका ध्यान बिलकुल नहीं रहता था। पेशवाओंके पास सिपाहीबानेके अनेक लोग थे, परन्तु युद्धका नाम सुनते ही विवाहके समान आनन्दोत्सव मनानेवाले एक बापू गोखले ही थे। लड़ाईके नामसे बापूके बाहु स्फुरण पाते, रगें वीरतासे फड़ने लगतीं और रुधिर उबलने लगता था। चारों ओरसे शस्त्रोंकी या अग्निकी वर्षा ही क्यों न होती हो, बापू अपनी छातीको वज्रके समान दृढ़ बनाकर उसकी कुछ भी परवाह नहीं करते थे।

बापू एकपत्नी, एकवचनी, निर्व्यसन और सच्चरित्र थे। उनकी रहन सहन और खानपानकी व्यवस्था बिलकुल सादी रहती थी। नाच, तमाशा नाटक आदिसे वे सदा दूर रहते थे। उनमें अपने सिपाहियोंको प्रसन्न रखनेकी विचित्र कला थी। उनकी सेनाका एक भी सिपाही कभी उनके विरुद्ध नहीं हुआ। बापूपर ठाकुर दास नामक एक साधुका अनुग्रह हुआ था। उन्हींकी कृपासे बापू भगवद्भक्त हो गये थे। वे प्रतिदिन बड़े प्रेमके साथ पैरमें घुंघरू बांधकर कीर्तन करते और भक्तिरसमें तल्लीन हो जाते थे। बापू साक्षर, वेदपाठी, धार्मिक और मिलनसार थे। जिस प्रकार नाना फड़नवीसकी मृत्युसे पेशवाईकी चातुरी और राजनीति-कुशलता नष्ट हो गयी, उसी प्रकार बापूकी मृत्युसे पेशवाईकी वीर-ताका अन्त हो गया!

सेवक अपने गुणोंमें कितना ही उत्कट क्यों न हो, यदि स्वामी गुणज्ञ न हुआ, तो उसके सभी गुण मिट्टीमें मिल जाते हैं। अन्तिम पेशवा बाजीराव बड़े ही दुराचारी और कायर थे। नानाका देहान्त हो चुका था। इस कारण बापूकी वीरतासे पेशवा उचित लाभ नहीं उठा सके। सन् १८१७ में पूनेमें विजयादशमीका

अन्तिम उत्सव हुआ। इसके पश्चात् पेशवा और अंगरेजोंमें युद्ध छिड़ा। गणेशखिण्ड, खिड़की, नीरो, सालपा, पण्ढरपुर, मिरज, वाघुली आदि स्थानोंमें जो लड़ाइयाँ हुईं, उनमें बापूने अपना तेज प्रकट कर उत्तम विजय सम्पादन किया था। उनकी वीरता देख, वेलस्ली साहबने भी भूरि भूरि प्रशंसा की थी। बापूका विजय अद्वितीय था, परन्तु पेशवाओंने बापूके परिश्रमकी ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। वे अपने ही रङ्गमें मगन थे। अन्तमें 'अष्टे' की लड़ाईमें अंगरेजोंके हाथों बापू गोखले रणगङ्गामें पावन हुए। उन्होंने प्राणान्तके समयमें यही कहा कि, "मैं सद्गदित अन्तःकरणसे स्वधर्म और स्वदेशके लिये प्राणविसर्जन कर, वीरगतिको प्राप्त हो रहा हूँ। प्रभुने इस दासकी क्षुद्र सेवाकी ओर दुर्लक्ष्य किया इसीका मुझे दुःख है। मैं भगवान्से हाथ जोड़कर यही प्रार्थना करता हूं कि, नाथ! मुझे पुनः इसी पवित्र भूमिमें जन्म दो, जिससे इसीकी सेवामें मैं अपने अनन्त देह अनन्तवार अर्पण कर जीवन सार्थक किया करूँगा। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।"

महाराजा रणजीतसिंह ।

महाराजा रणजीतसिंह किसी प्राचीन राजवंशके रत्न नहीं थे। इनके पूर्वज केवल चार पीढ़ियोंसे ही "सुकर चकिया" के सर्दार थे। इनका जन्म सन् १७८० ई० में गुजरानवालामें हुआ था। ये महासिंहके प्रतिभाशाली पुत्र थे। ये शरीरसे मोटे और साधारण रूपवाले थे। शीतलाकी बीमारीसे इनकी बांई आँख मारी गयी थी। घोड़ेकी सवारीमें ये बहुत रुचि रखते थे। घोड़ेपर सवार होनेपर इनके मुँहपर आश्चर्यजनक

तेज झलकने लगता था। वृद्धावस्थामें लकवा मार जानेपर भी घोड़ेको भलीभाँति अपने अधिकारमें रखते थे। दृढ, फुर्तीले, वीर एवं सहनशील थे। साधारण वस्त्र पहिनते थे। मुख्य मुख्य अवसरोंके अतिरिक्त आभूषणादि प्रायः धारण नहीं करते थे और रोगग्रस्त होनेपर भी सारा दर्बार इनके रोबसे कांपता था।

रणजीतसिंहको किसी भाषाका लिखना पढ़ना नहीं सिखाया गया। बाल्यावस्थामें ही उनका विवाह "कन्हैया" मिसिलके वंशकी कन्या महताब कुँवरसे कर दिया गया। सन् १७९२ ई० में महासिंहकी मृत्यु हो गयी। तदुपरान्त रणजीतसिंहकी माता संरक्षिका और महासिंहके मंत्री लखपति सिंह प्रबन्धकर्त्ता नियत हुए। रणजीतसिंहकी सास सदाकुंवर अति चतुर, योग्य, और राजनीतिमें निपुण थी। इसने "कन्हैया" और "सुकर चकिया" दोनों मिसिलोंके सारे अधिकार अपने अधीन रखे थे। रणजीतसिंहका दूसरा विवाह "नकिया" सर्दारकी कन्या राजकुंवरसे हुआ।

रणजीतकी उत्कट इच्छा थी कि, अपने बाहुबलसे एक ऐसे सिक्ख राज्यकी स्थापना करें, जिसकी गणना संसारकी सामर्थ्यशाली जातियोंमें हो सके। तदनुसार सत्रह वर्षकी अवस्थामें रणजीतसिंहने अपनी जागीरका काम स्वयं सम्हाला और अपने मंत्री लखपतिको पदच्युत कर दिया। इसके अनन्तर उन्होंने अपनी माता और सासको संरक्षतासे भी अपनेको मुक्त कर लिया। लखपतिसिंह और माताके अनुचित सम्बन्धको जाननेपर रणजीतसिंहने अवसर पाकर दोनोंको गुप्त रीतिसे मरवा डाला।

इस समय काबुलके सिंहासनपर जमानशाह आसीन था। उसने अपने पितामह अहमदशाह अब्दालीके विजय किये हुए पञ्जाब देशके प्रदेशोंको अपने राज्यमण्डलमें मिलानेकी इच्छासे सन् १७९५ १७९६, १७९७, में लगातार पंजाबपर आक्रमण किये। सिक्ख

बारह मिसिलोंमें विभाजित थे। उनमें ऐसा संघटन भी न था कि, सब मिलकर उसका सामना करते। जमानशाह बढ़ता हुआ झेलम नदीको पार कर तीसरे आक्रमणमें लाहोरका स्वामी बन बैठा। इसपर कतिपय अन्य सर्दारोंके साथ रणजीतसिंहने सतलज पार कर उसके इलाकेमें ऐसी लूट मार मचा दी कि, उसे प्रतीत होने लगा कि, वह उस प्रदेशका प्रबन्ध ठीक ठीक नहीं कर सकता। इसी समय ईरानियों द्वारा अफगानिस्थानपर चढ़ाई हुई सुनकर वह अफगानिस्थान लौट गया। जाते समय वह रणजीतसिंहको लाहोरका शासक नियुक्त कर गया। इसके उपरान्त उसने रणजीतसिंहको "राजा" की उपाधि भी प्रदान की।

लाहोरको अपने अधिकारमें कर लेने, तथा अफगान बादशाहसे "राजा" की उपाधि प्राप्त होनेसे रणजीतसिंहकी पंजाबमें धाक जम गई। भिन्न भिन्न मिसिलोंके सिक्ख सर्दारोंसे यह देखा न गया और वे ईर्षासे प्रेरित होकर दूसरे वर्ष राजा रणजीतसिंहके विरुद्ध षड़यन्त्र रचने लगे। राजा साहबको इस षड़यन्त्रका पता चल गया और बड़ी बुद्धिमानीसे उन्होंने उसे विफल कर दिया।

उपर्युक्त षड़यन्त्रमें कसूरका नवाब नजमुद्दीन भी सम्मिलित था और कसूरीके मुसलमानोंने कई बार लाहोरके इलाकोंमें लूट भी मचाई। इस कारण राजा रणजीतसिंहने नवाबको उपर्युक्त दण्ड देनेके विचारसे उसपर चढ़ाई कर दी। पराजय होनेपर नवाबने राजा साहबकी अधीनता स्वीकार कर ली और उन्हें वह कर भी देने लगा। भङ्गी सर्दारोंने अपनी कुटिलता त्यागी न थी। इससे रणजीतसिंहने अमृतसरपर चढ़ाई कर भंगी सर्दारोंको विजित कर उन्हें रामगढ़िया सर्दारोंके शरणागत होनेपर बाध्य किया। तदुपरान्त रणजीतसिंहने भंगी सर्दारोंके समस्त इलाके अपने अधिकारमें कर लिये।

इस युद्धसे रणजीतसिंहका पञ्जाबकी राजनीतिक तथा धार्मिक दोनों राजधानियोंपर अधिकार हो गया। अब इनको अपने शत्रुओंका भय न रहा। "कन्हैया" मिसिल तो इनके हाथमें थी ही, रामगढ़िया सर्दार जस्सासिंहके मरनेपर उसका पुत्र जोधा सिंह राजा रणजीतसिंहका अनुचर हो गया। रणजीतसिंहने इस सरल स्वभाव सर्दारके इलाकेमें हस्तक्षेप न किया। बल्कि उसके अधीनस्थ दुर्ग गोविन्दगढ़की—जो अमृतसरके अन्तर्गत था, मरम्मत करवा दी। जब तक यह योधा जीवित रहा, इससे राजा साहबका मैत्रीभाव बना रहा। सन् १८१६ में इसकी मृत्यु हो जानेपर उसके उत्तराधिकारियोंमें परस्पर वैमनस्य उत्पन्न हुआ। रणजीतसिंहने प्रयत्न किया कि, उनका झगड़ा तय हो जाय, परन्तु वह बढ़ता ही गया। इसपर रामगढ़िया नष्ट हो जानेकी चिन्तासे रणजीतसिंहने उसे अपने राज्यमें मिला लिया। उन्होंने इस कुलके सर्दारोंको बड़ी बड़ी जागीरें तथा सेनामें बड़े बड़े पद दिये।

रणजीतसिंहकी दूसरी रानी राजकुंवरके पिताकी जागीरपर इस समय कान्हसिंह आसीन था। उसके वर्तावसे अप्रसन्न होकर रणजीतसिंहने उसकी जागीरके कुल इलाके जो कसूर, चूनियां और गिरहमें थे, अपने राज्यमें मिला लिये। इसी प्रकार नकिया सर्दारोंकी जागीर भी सन् १८१० में रणजीत सिंहके हस्तगत हो गयी थी।

कन्हैया सरदारोंकी जागीर सदाकुंवरके अधिकारमें थी। यह स्त्री अत्यन्त कुशल तथा दृढ़प्रतिज्ञ थी। किन्तु पञ्जाब-केशरीने उसे भी नीचा दिखाया। सांसारिक माया-मोहको छोड़कर अपनी जागीर अपने दौहित्र (महताब कुंवरके लड़के) शेर-सिंहको दे देनेके लिये समझानेपर भी जब सदाकुंवरने ऐसा न

किया, तो रणजीतसिंहने उसे एक दुर्गमें नजरबन्द कर उसकी समस्त जागीर अपने राज्यमें मिला ली।

इस प्रकार सतलजके पश्चिमके इलाकोंको एक एक कर राजा रणजीतसिंहने अपने राज्यमें मिलाकर सिक्ख राज्यकी स्थापना की। इसके उपरान्त उन्होंने सतलजके पूर्व इस पारके इलाकों-पर भी दृष्टिपात कया। उनकी कुल खालसा सरदारोंको अपना सामन्त बनाकर एक संघटित सिक्ख साम्राज्यके स्थापित करने-की इच्छा थी। परन्तु सिक्ख सर्दारोंकी अदूरदर्शितासे वे इस प्रयत्नमें सफल मनोरथ न हुए। जब उन्होंने सतलजके इस पारके इलाके झींद, पटियाला और नाभापर इस उद्देश्यसे चढ़ाई की, तो सिक्ख सर्दारोंने ऐसी भूल की, जिसके कारण सिक्ख राज्य नष्ट भ्रष्ट हो गया। नाभा रियासतको वर्तमान अकाली आन्दोलनके रूपमें अपनी उस भूलका मूल्य देना पड़ रहा है। देखें पटियाला और झींद राज्य कबतक स्थायी रहते हैं? इन रियासतोंके सरदारोंने रणजीतसिंहकी अधीनता न स्वीकार कर अंगरेजी शासनकी छत्रछायामें ही शरण लेनेमें अपना गौरव समझा। अंगरेजोंका राज्य इस समयतक पञ्जाबकी पूर्वीय सीमा तक स्थापित हो चुका था। उनकी यह अहर्निश इच्छा थी कि, पञ्जाबको भी हड़प कर सारे भारतवर्षके स्वामी हो जायं। परन्तु रणजीतसिंहके सामने उनकी दाल गलना कठिन था। इसीसे वे उपयुक्त अवसरकी ताक झांकमें थे। वे यह भी जानते थे कि, भारतवर्षकी पश्चिमोत्तर सीमापर "सिक्ख" राज्यके रहनेसे उस ओरसे आक्रमणकारियोंको अंगरेजी राज्यमें आने-के लिये रुकावट रहेगी। इसीसे रणजीत सिंहके विरुद्ध लोहा लेनेकी उन्होंने नहीं ठानी। परन्तु सिक्ख सर्दारोंके सहायता मांगनेपर उनके मुंहमें पानी भर आया। अंगरेजोंने

अपनी सदैवकी प्रसिद्ध "परोपकार" नीति प्रकट की—जिसे उन्होंने कर्नाटक युद्धमें मुजफरजंगके विरुद्ध नासिरजंगको, सिराजुद्दौलाके विरुद्ध मीरजाफरको सहायता कर अजमाया था। अंगरेजी सरकारने रणजीतसिंहपर प्रकट किया कि, नाभा आदि राज्य हमारी संरक्षतामें हैं, उनपर राजा साहबका आक्रमण करना उचित न होगा।

महाराजा रणजीतसिंह भी बड़े ही दूरदर्शी थे। वे अंगरेजोंके बलको पहिले ही परख लिये थे। एक बार भारतके मानचित्रको देखकर उन्होंने कहा था कि, भारतवर्षका समस्त चित्र लाल हो जायगा। (भारतवर्षके मानचित्रमें अंगरेजोंका राज्य लाल रंग-से दरशाया गया है, और रियासतें पीले रंगसे) अंगरेजोंकी शक्तिको समझकर रणजीतसिंहने उनसे सन्धि कर लेना ही निर्धारित किया।

इस समय तक उत्तरी भारतवर्षमें अंगरेजोंके साथ वीर जसवन्तराव होल्करसे युद्ध हो रहा था। होल्करने सिक्ख सर्दारोंसे सहायता मांगी और वे अमृतसर जाकर रणजीतसिंहसे भी मिले। परन्तु फतहसिंह अहलूवालिया आदिके कहनेसे रणजीतसिंहने होल्करको सहायता देना स्वीकार न किया। यहां पर यह कहा जा सकता है कि, होल्करको निराश कर रणजीतसिंह-ने भारी भूल की। यदि उन्होंने अंगरेजोंसे सन्धि न कर होल्करको सहायता देकर तथा अन्य महाराष्ट्र नेताओंको मिलाकर अंगरेजोंसे लड़ना स्थिर किया होता तो, कदाचित् आज भारतवर्षकी राजनैतिक अवस्था कुछ और ही होती। परन्तु संयोग प्रबल है, जो होनेवाला होता है, वही संघटित होता है। अहलूवालियाने रणजीतसिंह तथा अंगरेजी सरकारके मध्य संधि भी करा दी। इस सन्धिके अनुसार रणजीतसिंह-

ने होल्करको अमृतसरसे निकाल दिया। साथ ही उनके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध न रक्खा, और न अर्थ तथा सेनासे उन्हें सहायता ही की। अंगरेजोंने स्वीकार किया कि, जबतक रणजीतसिंह अंगरेजी सरकारके शत्रुओंसे न मिलेंगे और न उक्त सरकारके विरुद्ध कोई युद्ध छेड़ेंगे, तबतक न कोई अंगरेजी सेना उनके राज्यमें भेजी जायगी, और न उनके अधिकारोंपर किसी प्रकारका हस्तक्षेप होगा। सतलजके दक्षिणके प्रदेशोंके संबंध-में कुछ भी निश्चय न हुआ। इसी कारण सतलजके इस पार बढ़नेसे रणजीतसिंह रुके नहीं।

सतलजके दक्षिणके सिक्ख इलाकोंकी दशा अतिशोचनीय थी। उनमें कुप्रबन्ध और परस्पर वैमनस्य बहुत बढ़ गया था। अन्तमें झींद और पटियालामें विग्रह उठ खड़ा हुआ, और झींदके भागसिंहने निपटारेके लिये रणजीतसिंहको बुलाया। रणजीतसिंह एक बड़ी सेना लेकर गये और उनके झगड़ेको तय कर जब लौटने लगे, तो लुधियाना प्रदेशकी बुरी अवस्था देखकर उसपर अधिकार कर लिया।

इसी वर्ष एक बड़ी सेनाके साथ महाराजा साहब पटियाला गये और उन्होंने वहांके राजा साहबसिंह और उनकी रानी आस कुंवरिके बीचके झगड़ेकी निवृत्ति की। मार्गमें फिरोजपूरके बहुतसे इलाकोंको भी उन्होंने अपने अधीनस्थ कर लिया।

झींद और पटियालाके राजा फिर अंगरेजोंके यहां प्रार्थी हुए कि, वे उन्हें अपनी संरक्षकतामें ले लें। महाराजा साहबकी उक्त कार्यवाहियां अंगरेजोंको कब भाने वाली थीं? एक तो महाराजा साहबका सतलजके इस पार उनके इलाकोंकी ओर बढ़ना, दूसरे उनका अन्य सिक्ख सर्दारोंको अपनी संरक्षकतामें लाकर सिक्ख राज्यका संघटन करना, दोनों ही बातें अंगरेजोंके

मानसिक कष्टकी कारण हुई। आरम्भसे ही अंगरेज राजनीतिज्ञ भारतीयोंके संघटनसे भय खाते आये हैं। वे भली भाँति जानते हैं कि, भारतीयोंके असंघटनके ही कारण यहांपर उनका राज्य चल रहा है। जिस दिन भारतवर्षमें संघटन हो जायगा, उसी दिन उन्हें यहांसे झोली कन्था लेकर चल देना होगा। अस्तु।

अंग्रेज बहादुरोंको महाराजा रणजीतसिंहके राज्य बढ़ानेकी प्रणालीको रोकनेके लिये कोई रीति सूझती नहीं थी। एक ओर मराठोंकी लड़ाईसे दम नहीं मिलता था। दूसरी ओर रूसके साथ नपोलियन बोनापार्टके एशियाई साम्राज्यकी स्थापनाका भय लगा हुआ था और महाराणा रणजीतसिंहकी संघटित सेनासे लड़ना "पलासी युद्ध" का खेल न था। इन सब बातोंपर गूढ़ विचार करनेपर तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड मिण्टोको एक नवीन युक्ति सूझी। उसने राजदूत भेजनेकी प्रथा निकाली। निदान उसने एक दूत सर चर्लस् मेटकाफको महाराजा रणजीतसिंहसे नयी सन्धि करनेको भेजा। महाराजा साहबने अंग्रेजी दूतके आनेका समाचार पाकर निश्चय किया कि, सन्धि होनेके पूर्व अपनी अवस्था दृढ़ कर लें। सतलजके इस पारकी रियासतोंपर आक्रमणके लिये एक बड़ी सेना इकट्ठी की। मेटकाफ साहब पटियालेके राजासे मिलकर ११ सितम्बर सन् १८०८को कसूर पहुंचे। और सरकार अंग्रेजकी इच्छानुसार महाराजा रणजीतसे प्रार्थना की कि, यदि नेपोलियन भारतपर आक्रमण करे, तो हम दोनों मिल कर पीछे हटानेका प्रयत्न करें। रणजीतसिंहने स्वीकार कर लिया और कहा कि, इसके बदले अंग्रेज सरकारसे मैं यह चाहता हूँ कि, वह मुझे सारे सिक्ख जातिका प्रधानता स्वीकार करे। रणजीतसिंहकी इसी कार्यवाहीको मेटकाफ साहब उखाड़नेके लिये गये थे। भला

इसीका समर्थन कैसे करते ? इसपर इन्होंने अनाकानी की और कहा कि, बिना अपनी गवर्नमेंटकी सम्मतिके मैं कुछ नहीं कर सकता। महाराजा साहबको, नदी पार कर फरीदकोट आदि पर अधिकार करनेके उपरान्त अम्बालेकी ओर—जिसको अंग्रेज हस्तगत करने ही वाले थे, बढ़ते हुए देखकर मेटकाफ साहब फतीहाबादकी तरफ चले गये।

इसी बीचमें दूसरा गुल खिला। नेपोलियन स्पेनपर आक्रमण करनेमें लग गया और रूसकी अंग्रेजोंसे मैत्री हो गयी, फिर क्या था? बृटिश भारतपर युरोपीय शक्तियोंके आक्रमण करनेकी कुछ भी आशंका न रही। अब रणजीतसिंहके साथ इस भयके आधारपर अवास्तविक सन्धि करना व्यर्थ हो गया। अतएव अंग्रेजी दूत मेट-काफ साहबने महाराज साहबको सूचना दी कि-"सतलजके दक्षिण-के प्रदेशोंपर आपके अधिकार अंग्रेजी सरकार स्वीकार नहीं करेगी। भारतवर्षमें मराठोंका उत्तराधिकारी अंग्रेज सरकार ही है। मराठों-के साथ जब युद्ध हो रहा था, तब आपने ही अपने और हमारी सरकारके राज्यकी सीमा सतलज मान ली थी। तभीसे सरकारने सतलजके इस पारके देशोंका कर जमा कर उनको अपने अधीन कर लिया है। आपने अंग्रेज एलचीके साथ जो व्यवहार किया है, वह जाति-व्यवहारकी नीति-रीतिके प्रतिकूल है। पर जब पर-स्पर बात चीत पत्र व्यवहार द्वारा हो रही थी, तब जो आपने सतलजके इस पारके देशोंपर हाथ फैलाया, सो अच्छा नहीं किया। आपको उचित है कि, इस पत्र व्यवहारके आरम्भसे जो इलाके अधीन लिये हैं उनको लौटा दें, और सतलजके दक्षिणसे सेना हटा लें।"

इसको स्वीकार करनेमें महाराजा साहबने बहुत दिनोंतक आगा पीछा किया, अंग्रेजोंसे युद्ध करनेके लिये सेना एकत्र करने लगे,

अंग्रेज सरकार भी निश्चिंत न रही, उसने एक बड़ी सेना अम्बालेकी ओर भेज दी, परन्तु अन्तमें महाराजने अज़ीज़ुद्दीन इत्यादि दर्बारियोंकी सम्मतिसे इन शर्तोंको मान लिया और परस्पर सन्धि हो गयी। यह सन्धि उनके जीवनपर्य्यन्त स्थायी रही।

इसके उपरान्त महाराजा रणजीतसिंह सतलजके उत्तर अपने राज्यकी सीमाको आगे बढ़ानेमें लगे। सन् १८१० ई० में उन्होंने मुल्तानपर आक्रमण किया और दस लाख मुद्राएँ कर लेकर वे लौट आये। फिर उन्होंने कश्मीरपर चढ़ाई करनेका विचार किया और काबुलके बादशाह शाह शुजासे सन्धि की, जिससे उनको प्रसिद्ध कोहेनूर हीरा प्राप्त हुआ। सन् १८२३ में रणजीतसिंहने पेशावरपर चढ़ाई की और अन्तमें विजय प्राप्त की। पिछले २० वर्षोंमें सिक्खोंके राज्यकी सीमा बहुत ही बढ़ गयी। और इस प्रकार पंजाबमें एक शक्तिमान सिक्ख राष्ट्रकी स्थापना हो गयी।

विलक्षण बुद्धिमान, वीर योधा, कुशल सेनानायक, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ होनेके अतिरिक्त महाराजा साहब सुप्रबन्धकर्त्ता शासक भी थे। नौकरी देनेमें वे जाति-पाँतिका भेदभाव नहीं रखते थे। काजी अज़ीज़ुद्दीन, राजा दीनानाथ, गुलाबसिंह तथा ध्यानसिंह आदि राज्यके कर्मचारी बड़े ही योग्य पुरुष थे और महाराज उनको सम्मानकी दृष्टिसे देखते थे। रणजीतसिंहका शासन फौजी था, इसी कारण कभी कभी प्रजाके साथ क्रूरताका भी बर्ताव होता था। परन्तु रणजीतसिंह सैनिकोंको मनमानी नहीं करने देते थे। सेनामें अधिकतर सिक्ख ही थे, जो अस्त्र-शस्त्रसे भलीभाँति सुसज्जित थे। वे युरोपीय शैलीपर अपनी सेनाको सुशिक्षित करते थे। उनकी सेनामें बड़े बड़े अफ़सर आवर्ड, फोर्ड तथा वेञ्चूरा आदि युरोपीय ही थे।

भूमिकरके वसूल करनेका प्रबन्ध अच्छा था। राज्यकी आय

लगभग डेढ़ करोड़ थी। कृषकोंसे $\frac{2}{5}$ भाग लिया जाता था। समस्त देश जिलोंमें विभक्त था और प्रत्येक जिलेमें कारदार होते थे, जो भूमिकर वसूल करते थे। कर वसूल करनेमें बेईमानी तथा क्रूरता हुई, मालूम हो जानेपर उसे कठिन दण्ड दिया जाता था। रणजीतसिंहका शासन-प्रबन्ध दोषरहित न होनेपर भी इसमें सन्देह नहीं कि, वे सदा प्रजाके सुखकी चिन्ता रखते थे और जब तक वे जीवित रहे, उनके राज्यमें शान्ति रही और कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुआ।

शिक्षित न होनेपर भी वे राज्यका कार्य करनेमें बड़े ही कुशल थे और पेचीदे मामलोंको शीघ्र समझ जाते थे। अंग्रेजोंका बल समझ उन्होंने उनसे सदैव मित्रता रक्खी। परन्तु वे अंग्रेजोंकी नीतिसे भी पूर्णरूपसे परिचित थे। प्रथम अफ़गान युद्धमें लार्ड आकलैण्डको सहायता देना स्वीकार करनेपर भी अंग्रेजी सेनाको पञ्जाबसे होकर काबुल जाने देना राजनीतिक दृष्टिसे सिक्ख राज्यके लिये उपयुक्त न होगा, यह समझ अपने राज्यमेंसे उन्होंने अंग्रेजोंको मार्ग नहीं दिया और उन्हें सिंधसे होकर काबुल जाना पड़ा।

अफगान युद्ध चल ही रहा था कि, भारतवर्षके अन्तिम वीर-रत्न, सिक्ख राज्यके निर्माता, पञ्जाबकेशरीका २६ जुलाई सन् १८३६ ई० को देहान्त हो गया। इनके साथ इनकी रानियां भी सती हो गयीं। इस पंजाब दीपकके साथ ही साथ भारतीय राष्ट्रका अन्तिम सितारा भी विलीन हो गया! देखें फिर उसका कब उदय होता है और भारतवर्षके उज्वल दिन आते हैं?

———

श्रीस्वामी विवेकानन्द ।

"भारत माताके प्रिय पुत्रो ! तुम्हारे लिये यह समय बड़ा उपयुक्त है। इस समय पृथ्वीके पश्चिमी गोलार्धके अन्दर ज्वालामुखी सुलग रही है, वह किस दिन एकाएक भभक उठेगी, इसका निश्चय नहीं है। वहाँके लोग उससे बचनेके यत्न कर रहे हैं, परन्तु उलटी सूझ होनेके कारण बचावका उन्हें कोई मार्ग सूझ नहीं पड़ता। विलासितारूपी मधुका वे आकण्ठ पान कर चुके, पर उससे उनकी तृप्ति नहीं हुई, उलटे उनके हृदय जल रहे हैं। इस समय यदि तुम अपने देशके आध्यात्मज्ञानरूपी सुधाका एक ही प्याला उन्हें पिला दोगे, तो उनपर तुम्हारे अनन्त उपकार होंगे। अब तुमको अपने अपने दरबे छोड़, बाहर निकलना चाहिये। हम अपनी आध्यात्मिकताके द्वारा ही पाश्चात्य देशोंपर विजय पा सकते हैं। हमें उन्हें समझा देना होगा कि, राष्ट्रताके लिये अध्यात्मज्ञानकी कितनी आवश्यकता है।"

२४ वर्ष पहिले कही हुई श्रीस्वामी विवेकानन्दकी यह वाणी आज सत्य हुई देख पड़ती है। उनके उपदेशानुसार यदि भारतवासी कमर कस कर लगातार यत्न करते, तो महासंग्रामसे हुई जगत्की हानि बच जाती और शान्ति-स्थापनका जो मान अमेरिकाको मिला, उससे कहीं बढ़कर भारतवर्षको मिलता। अब भी हम अपना और जगत्का कल्याण आध्यात्मिकताके प्रचार द्वारा ही कर सकते हैं।

जिस समय इस देशके लोग पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे अपने धर्मकर्मको छोड़ बैठे थे और इससे लाभ उठा कर ईसाइयोंने कृस्तानी

धर्मके प्रचारार्थ धूम धड़ाकेके साथ यहां मिशनका कार्य आरम्भ किया था। उस समय ऐसे महापुरुषकी आवश्यकता थी, जो नास्तिक बने हुए स्वदेशवासियों और उनके जड़वादी पाश्चात्य गुरुओंकी आँखोंपर पड़े हुए अज्ञानके परदेको हटाकर सत्य वस्तु-का उन्हें ज्ञान करा देता। श्रीस्वामी विवेकानन्दजीने इस आवश्य-कताकी पूर्ति कर भारतमाताका मुख उज्ज्वल किया है।

कलकत्तेके निकट 'सिमूलिया' नामक ग्राममें ता० ९ जनवरी १८६२ को बाबू विश्वनाथदत्त नामक एक कुलीन कायस्थके घर श्रीस्वामी विवेकानन्दजीका जन्म हुआ। विश्वनाथ कलकत्ता हाईकोर्टमें 'अटर्नी' का काम करते थे। आपके वृद्ध पिताने संन्यास ग्रहण कर लिया था। पितामहकी संन्यस्त वृत्तिका वही आनुवंशिक संस्कार बीजरूपसे स्वामीजीमें जन्मसे ही देख पड़ता था।

स्वामीजीका जन्मनाम वीरेश्वर था, परन्तु माता, पिता, गुरु-जन आपको नरेन्द्र कहकर पुकारते थे। इससे आगे भी आप 'नरेन्द्र-नाथ दत्त' के नामसे ही प्रसिद्ध हुए। नरेन्द्रकी आँखें सुन्दर, शरीर गोरा, सुडौल और चेहरा तेजस्वी था। वह ज्यों ज्यों बड़ा हुआ, त्यों त्यों अधिक खिलाड़ी, हँसोड़ और उपद्रवी होता गया। यहां तक कि, उसके पाठशालामें प्रवेश करनेपर ऐसा कोई दिन खाली नहीं गया, जिस दिन नरेन्द्रकी दस पाँच शिकायतें माता-पिताके पास न आयी हों। सहपाठियोंसे मारपीट और शिक्षकोंसे वाद-विवाद करनेकी उसे बान पड़ गयी थी।

यद्यपि नरेन्द्रसे सहपाठी और शिक्षक दोनों हैरान थे, तथापि उनका उसपर प्रेम कम नहीं था। इसका कारण यह था कि, नरेन्द्रकी बुद्धि बहुत ही तीव्र होनेके कारण वह अध्यापकोंसे जिज्ञासाबुद्धिसे विवाद करता और सहपाठियोंको पढ़नेमें सहा-

यता पहुँचाता था। वह पहिले दर्जेसे बी० ए० तक कभी 'फेल' नहीं हुआ। १४ वें वर्षमें मेट्रिक और १८ वें वर्षमें वह बी० ए० 'पास' कर चुका था। उसे तत्त्वज्ञानकी पुस्तकोंके पढ़नेमें बड़ा आनन्द आता और पाठ्य पुस्तकोंकी अपेक्षा उन्हींके देखने तथा मनन करनेमें उसका अधिक समय व्यतीत होता था। खेल खिलवाड़ और विद्यालयके अभ्यासमें किसी प्रकारकी त्रुटि न रखकर वह कभी कभी तत्त्वज्ञानके विभिन्न विषयोंपर सुन्दर लेख भी लिखता था। विद्यार्थी अवस्थामें तत्त्वज्ञान सम्बन्धी एक टीकात्मक लेख लिखकर उसने वह प्रसिद्ध पाश्चात्य तत्त्ववेत्ता 'हरबर्ट स्पेन्सर' के पास अवलोकनार्थ भेजा था, जिसे देखकर उन्हें भी दांतों तले अङ्गुली दबानी पड़ी थी। तत्त्वज्ञानपर टीका टिप्पणी दूर रहे, साधारण लेख लिखना ही विद्वानोंके लिये कठिन है। वह काम भारतके एक बाल-विद्यार्थी द्वारा हुआ देख, स्पेन्सर साहबने आश्चर्य और कौतुक प्रकट करते हुए नरेन्द्रको उत्तेजनापूर्ण पत्र लिखा,-"आप अपना उद्योग बराबर जारी रक्खें, भविष्यत्में संसार आपसे उपकृत होगा।" वास्तवमें स्पेन्सर साहबकी वाणी सत्य हुई और नरेन्द्रने थोड़े ही समयमें अविश्रान्त परिश्रम, बुद्धिमत्ता तथा कठोर स्वार्थत्यागसे तमाम दुनियाँको बिना दामके अपना गुलाम बना डाला। इसी तरह प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित मेक्समूलरको नरेन्द्रने अपने ज्ञानसे मुग्ध कर डाला था। मेक्समूलर नरेन्द्रके गुरु रामकृष्ण परमहंसका जीवन-चरित्र लिखने वाले थे, पर थोड़े ही समयमें देहान्त होनेसे उनकी वह इच्छा पूरी न हो सकी।

पिताका देहान्त हो जानेपर नरेन्द्रने ६०) मासिकपर नौकरी कर ली थी, किन्तु तत्त्वज्ञानके अभ्यासमें इससे बाधा पड़नेके कारण शीघ्र ही छोड़ दी। माताकी बहुत इच्छा और आग्रह होनेपर भी

नरेन्द्रने विवाह नहीं किया। कनक और कामिनीकी असारताको वह भली भाँति समझ चुका था। एक पत्रमें लण्डनसे उसने लिखा था,—"मुझे ऐसे मनुष्योंकी आवश्यकता है, जिनकी नसें लोहेकी, ज्ञानतन्तु फ़ौलादके और अन्तःकरण वज्रके हों। क्षत्रि-योंका वीर्य और ब्राह्मणोंका तेज जिनमें एकत्र हुआ हो, ऐसे बाल नरसिंह मुझे अपेक्षित हैं। ऐसे लाखों बालक मेरी आँखोंके सामने हैं, मेरी आशाएँ पूर्ण करनेके अङ्कुर उनमें विद्यमान हैं, परन्तु हा! उन बच्चोंका बलिदान होगा! होमकुण्डमें उनकी पूर्णाहुति दी जायगी! विवाह! विवाहके होमकुण्डकी प्रखरतासे जलती हुई अग्नि-की ज्वालाएँ देखो चारों ओर जल रही हैं! इसी कुण्डमें मेरे देशके कोमल बालकोंको झोंक दिया जायगा! हा परमात्मन्! इस जलते हुए अन्तःकरणसे निकलनेवाले करुणापूर्ण उद्गार क्या तुम्हें सुनायी नहीं देते? यदि कमसे कम ऐसे सौ वीर भी सत्यके लिये संसारकी विशाल रणभूमिमें उतर आवें, तो बहुत कुछ काम हो सकता है। गृहस्थीको लात मार कर केवल सत्यके लिये देश-विदे-शमें जाकर लड़ाई करनेका यह समय है। इस समय विदेशमें किया हुआ एक ही काम देशमें किये हुए हज़ारों कामोंके बराबर है। ईश्वरकी इच्छा होगी, तो सब कुछ हो जायगा।" इन विचारोंसे जगत्में आर्योंके तत्त्वज्ञानप्रचारकी इच्छा और ब्रह्म-चर्यकी महत्ता नरेन्द्रके अन्तःकरणमें कितनी उत्कट थी, इसका परिचय मिलता है।

अहो, ईसाई और महम्मदी धर्मतत्त्वोंका ज्ञान उन समाजोंमें प्रवेश कर नरेन्द्रने भली भाँति प्राप्त किया था; परन्तु उसे कहीं शान्ति न मिली। तब उसने वेदों और दर्शन शास्त्रोंका गहरा अभ्यास किया। इससे उसे सन्तोष हुआ और सनातनधर्मपर पूरी श्रद्धा कर,—जिसे वह निःसार समझता था, सद्गुरुकी खोजमें

लग गया। भाग्यवश दक्षिणेश्वरके परमयोगी रामकृष्ण परमहंससे उसकी भेंट हुई। उन्होंने नरेन्द्रके सब सन्देह मिटा दिये और उसपर अनुग्रह किया। सद्गुरुका लाभ होनेसे नरेन्द्रके हृदयमें उठने वाली उद्वेग और सन्देह-वह्निकी ज्वालाएँ शान्त हो गयीं। वह इतना गुरुभक्त हो गया था कि, किसी देशमें किसी समय जब कभी उसे गुरुका स्मरण होता, तब मातृ-वियोगी बालककी तरह रोने लगता था। एक समय एक राजाने उसे मानपत्र अर्पण किया, उसमें रामकृष्णका उल्लेख किया गया था। बस्, नरेन्द्र प्रेमवश एकदम मस्त होकर बोलने लगा,—"सचमुच रामकृष्ण मेरे हैं और मैं उनका हूं। वे मेरी माता, वे मेरे पिता, वे मेरे देवता, वे मेरे प्राण, वे मेरी आत्मा, वे मेरे धनी, वे मेरे तारक और वे ही मेरे सब कुछ हैं। आज तक मैंने जो कुछ किया, वह सब उन्हींकी कृपाका फल है। मेरे मुखसे जो कुछ सुन्दर, मधुर और कोमल शब्द निकले हों, वे उन्हींके हैं। कठोर, बिना अर्थके और निःसार शब्द मेरे हैं। वे गुरुचरण मुझे कभी न भूलेंगे। देह धारण कर यदि मुझे कहीं शान्ति मिली हो, तो गुरुचरणोंके सहवासमें ही मिली है।"

सन् १८८६ में रामकृष्णका शरीर छूटनेपर उनके २६ शिष्योंने संन्यास ग्रहण कर, गुरुके मतोंका तथा वैदिक धर्मका सारे संसारमें प्रचार करनेका निश्चय किया। उनमें नरेन्द्र प्रधान था। नरेन्द्रने बड़ी कठिनाईसे माताकी आज्ञा प्राप्त कर, संन्यास लेनेपर 'श्रीस्वामी विवेकानन्द' यह सुन्दर नाम धारण किया। विवेकानन्दको योगाभ्यास और आत्मानुभवके लिये जब कभी एकान्तकी आवश्यकता होती थी, तब वे हिमालयकी गुहाओंमें चले जाते थे। धर्मप्रचारार्थ प्रथम वे तिबेट, चीन और जापानमें गये। वहां उनका अच्छा प्रभाव पड़ा। वहांसे लौटकर बनारस, इलाहाबाद, पूना, रामेश्वर

आदि नगरोंसे होते हुये रामनाथ पहुंचे। संयोगवश वहांके महाराजसे स्वामीजीकी भेंट हुई। महाराज वेदान्त और पाश्चात्य दर्शनोंके अच्छे विद्वान् थे। प्रथम उन्होंने स्वामीजीको साधारण वैरागी ही समझ कर हिन्दीमें विनोदसे वेदान्तसम्बन्धी कुछ प्रश्न किये। स्वामीजीने उन प्रश्नोंके अंग्रेजीमें ऐसे अच्छे उत्तर दिये कि, इनकी विद्वत्तापर महाराज मुग्ध होगये। उन्होंने स्वामीजीसे अमेरिकाको सर्वधर्मपरिषदमें हिन्दुधर्मके प्रतिनिधि-रूपसे जानेकी प्रार्थना की और स्वामीजी भी जानेको प्रस्तुत हो गये।

अमेरिकामें पहुंचनेपर वहांके लोगोंको मानों यह खिलौना मिल-गया। गेरुई कफनी और साफा पहिरे हुए मनुष्योंको देखनेका अरिकनोंको अभ्यास न होनेसे एक सज्जनने राह चलते स्वामीजीका साफा उड़ा दिया। स्वामीजीने उससे पूछा,—"आप जैसे भले आदमीको मेरा साफा उड़ानेके कष्ट क्यों उठाने पड़े?" सज्जन बोला,—"तो आपने ऐसा विचित्र वेष क्यों धारण किया है?" स्वामीजीने उत्तर दिया,—"मैं बहुत दिनोंसे सुनता था कि, यह बड़ा सभ्य देश है, इसलिये इसका दर्शन करनेके लिये बहुत दूर से आया हूं। सन्तोषका विषय है कि, यहांकी सभ्यताका प्रथम परिचय आपने ही करा दिया।" 'क्षमा कीजिये' के सिवा और वह सज्जन क्या कहता? जिस बुढ़ियाके घर स्वामीजी ठहरे थे, उसने इस विचारसे इन्हें अपने घर ठहरा लिया था कि,इस विचित्र वेषधारी पौर्वात्य जीवके सहवाससे घरके लोगोंका मनोरंजन होगा! परन्तु जब स्वामीजीने उस घरके लोगोंको सरल और सुगम भाषामें तत्वज्ञानका उपदेश देना आरम्भ किया, तब मनोर-अन दूर रहा, हजारों लोग प्रति दिन उनके पास ज्ञानसम्पादन-के लिये जमा होने लगे। कई सम्पादक, ग्रन्थकार और अध्यापक

उनके पास आने लगे। थोड़े ही दिनोंमें समाचारपत्रों द्वारा उनकी कीर्ति अमेरिका भरमें फैल गयी।

अमेरिकाके अनेक तत्त्वज्ञानियोंने मिलकर स्वामीजीके ज्ञानकी थाह लेने और पोल खोलनेके विचारसे वहांके सर्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञानीसे उनकी भेंट करायी। उससे वादविवाद कर स्वामीजीने आधे घण्टेमें ही उसे शिष्य बना लिया। इससे सभी चकित हुए। वह तत्त्वज्ञानी शिकागोकी सर्वधर्मपरिषद्के सभापति डा० बेरोजके पास स्वामीजीको ले गया। डा० बेरोज भी स्वामीजीसे मिलकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसी समय उनका नाम सर्वधर्मपरिषद्में हिन्दुधर्मके प्रतिनिधिके नाते लिख लिया। यही नहीं, किन्तु स्वागतकारिणीसभाने स्वामीजीको ही सब धर्मोंके प्रतिनिधियोंका स्वागत करनेका भार सम्मानपूर्वक अर्पण किया। परतन्त्र भारतके लिये यह बात कम गौरवकी नहीं है। नाना देशोंसे आये हुए धर्मात्माओंका प्रेमसे स्वागत करते हुए स्वामीजी मधुरवाणीसे कहते थे,—"आजका दिन संसारके इतिहासमें चिरस्मरणीय होगा। क्योंकि सब धर्मोंके तत्त्ववेत्ता, पुण्यपुरुष, भगवद्भक्त, साक्षात् परमेश्वरकी विभूतियाँ आज यहाँ एकत्रित हुई हैं, और उनका स्वागत करनेका मान यहांके उदार तथा माननीय सज्जनोंने मुझे दिया है। आप लोगोंके दर्शनोंसे मैं धन्य हुआ!"

नगरकी दीवालोंपर जिस दिन परिषद्की ओरसे इस आशयका विज्ञापन चिपकाया हुआ लोगोंने देखा कि, एक तेजःपुञ्ज अद्वितीय हिन्दु संन्यासी वक्ताका व्याख्यान संन्ध्याके ४ बजेसे धर्म परिषद्में होगा, उस दिन सभाभवनमें विद्वानोंकी इतनी भीड़ हुई कि, चिउंटीको चलनेकी भी जगह नहीं रह गयी थी। भवनके बाहर चारों ओर लाखों लोग ठसे ठस भरे हुए थे और सबकी आंखें स्वामीजीके दर्शनके लिये प्यासी हो रही थीं। यथासमय

स्वामीजी उदयाचलपर आरूढ़ हुए सूर्यकी तरह व्यासपीठपर खड़े हुए। वह शान्त और मनोहर मूर्त्ति देख, लोगोंने जय-घोष किया। स्वामीजीने मधुर और कोमल कण्ठसे एक शान्त रसका अपना बनाया हुआ अँग्रेजी गान गाया। गानकी हर एक कड़ीके अन्तमें था,—"से-ॐतत्सत्।" जब ये शब्द स्वामीजीके वीणाविनिन्दित कण्ठसे निकलते, तब श्रोता गद्गद हो, आँखें मूँदकर डोलने लगते थे। गान समाप्त होनेपर लोगोंने स्वामीजीके नामका पुनः एकवार जयघोष किया, तत्पश्चात् स्वामीजीका व्याख्यान आरम्भ हुआ। व्याख्यानका विषय था,—"संसारमें एक धर्म होना संभव है या नहीं? यदि सम्भव है, तो वह धर्म कौनसा है?" स्वामीजीने अनेक युक्ति और प्रमाणोंसे बिना किसी का दिल दुखाये सिद्ध कर दिया कि, ऐसा एक हिन्दुधर्म ही है, जिसको संसारके सब लोग स्वीकार कर सकते हैं।

इस व्याख्यानका इतना प्रभाव पड़ा कि, जिस अमेरिकामें कुछ दिन पहिले लोग स्वामीजीकी दिल्लगी उड़ाया करते थे, उसी अमेरिकाके लोग उनकी चरणधूलि शिरपर चढ़ानेके लिये लालायित होने लगे। हजारों रुपये नम्रतापूर्वक लोगोंने उनकी भेंटमें चढ़ाये और सैंकड़ों उनके शिष्य बने। समाचारपत्रोंमें प्रशंसात्मक अनेक लेख निकले। उनका आशय था,—"जिसने गेरुए वस्त्र धारण किये थे, जिसके चेहरेसे बुद्धिमत्ता प्रकट होती थी और जिसकी वाणी अस्खलित थी, वह हिन्दु धर्मोपदेशक परमात्माका उत्पन्न किया हुआ एक जन्मसिद्ध वक्ता है। धर्मपरिषद्में आये हुए लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ पुरुष हिन्दु संन्यासी है। उसका व्याख्यान सुन, हमें निश्चय हुआ कि, जिस देशमें ऐसे प्रतिभाशाली वक्ता हैं, उस देशमें मिशनरियोंको भेजना मूर्खता है।" देश देशान्तरसे शिष्यत्व ग्रहण करने आये हुए लोगोंके सुभीतेके लिये स्वामीजीने

वहां 'रामकृष्ण मठ' स्थापन किया और वहीं प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदिकी शिक्षा देकर अनेक शिष्य तैयार किये। अमेरिकाके विभिन्न नगरोंमें राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि विषयोंपर महीनों व्याख्यान देनेके पश्चात् स्वामीजी इँग्लैण्ड आये । स्वामीजीकी कीर्ति सर्वत्र फैल गयी थी, इस कारण इंगलैण्डमें भी उनका अच्छा आदर हुआ । ज्ञानयोग स्वामीजीने इंगलैण्डमें ही सुनाया। पश्चिमी देशोंमें इस प्रकार विजय प्राप्त कर और हिन्दुधर्मका झण्डा फहराकर १५ जनवरी १८९७ को स्वामीजी कोलम्बो आये । वहां स्वामीजीका बड़े ठाठसे लोगोंने स्वागत किया । उनके कुछ व्याख्यान भी हुए । अनन्तर स्वामीजी रामेश्वर चले आये । उनके स्वागतके लिये रामनाथके महाराज हाथी, घोड़े, ऊँट आदि लेकर पधारे थे। स्वामीजीकी गाड़ी लोगोंने खींची थी। वहीं स्वामीजीके नामसे पश्चिम-दिग्विजयका स्मृतिस्वरूप एक जयस्तम्भ गाड़ा गया ।

सन् ९७ के अकालके समय स्वामीजी और उनके देशी विदेशी शिष्योंने घोर परिश्रम कर हजारों लोगोंके प्राण बचाये । अनन्तर ३ वर्षोंतक भारतवर्षभरमें भ्रमण कर और अलमोड़ा, काशी, कलकत्ता आदि स्थानोंमें 'रामकृष्ण सेवाश्रम' 'रामकृष्ण पाठशाला' 'रामकृष्ण होम आफ सर्विस' आदि संस्थाएं स्थापन कर नवशिक्षित लोगोंमें स्वामीजीने अभूतपूर्व धर्मजागृति कर दी। सन् १९०० में अति-परिश्रमसे स्वामीजीका शरीर बहुत क्षीण हो जानेके कारण वैद्योंने विदेश जाकर विश्राम करनेका उन्हें परामर्श दिया। तदनुसार वे अमेरिकाके 'केलोफोर्नियां' नगरमें गये, परन्तु वहां भी विश्राम कहां? हजारों लोग रोज आकर उन्हें व्याख्यान करनेका अनुरोध करते और वे सबके मनवाली करते जाते थे । तौभी सैकड़ों नगरोंके निमन्त्रणोंको लाचार होकर उन्हें अस्वीकार करना पड़ा । अमेरिकामें स्वामीजी आये हुए जानकर फ्रान्सवालोंने पेरिसमें धर्मपरिषद्

करना निश्चित कर स्वामीजीको निमन्त्रित किया। बहुत अनुरोधके कारण स्वामीजीको फ्रान्स जाना पड़ा। वहां छः महीनेमें फ्रेंच भाषा सीखकर परिषद्में ऐसा सुन्दर व्याख्यान दिया कि, कितने ही फ्रान्सीसी उनके शिष्य बन गये। विदेशोंमें भी विश्राम नहीं मिलेगा, जानकर स्वामीजी शीघ्र ही स्वदेश लौट आये। स्वामीजीके सहस्रों विदेशी शिष्योंमें सिस्टर निवेदिता बहुत ही ज्ञानसम्पन्न हुई।

एक दो वर्ष स्वदेशमें ही धर्मप्रचार और अपनी स्थापन की हुई संस्थाओंकी सम्हालका कार्य स्वामीजी करते रहे। सन् १६०२ की ४थी जुलाईको रात्रिके ८ बजे शिष्योंको पढ़ाते समय स्वामीजी सहसा बोल उठे,—"आज श्री सद्गुरुचरणोंका दर्शन करनेकी विवेकानन्दकी इच्छा है। अब इसे आप आनन्दसे बिदा दें। आजतक इसके द्वारा जो कुछ भले बुरे कार्य हुए हैं, वे सब उन्हीं सद्गुरुकी प्रेरणाका फल है। शरीर नाशमान है, किन्तु आत्मा अमर है, उसका कार्य कभी नहीं रुकता। देशकी शेष इच्छाओंको आप लोग पूर्ण करें। भगवान् आपको सहायता करेंगे।" एकाएक "ॐतत्सत्" की ध्वनि कमरेमें गूंज उठी, लोग समझ नहीं सके कि, आज स्वामीजी क्या कह रहे हैं? चौकन्ना होकर लोग क्या देखते हैं कि, स्वामीजी ब्रह्मसमाधिमें लीन हैं, उनका आत्मा परमात्मामें लीन हो गया है! सबकी आंखोंसे अश्रु-धाराएं बहने लगीं। उस समय रात्रिके ६ बजे होंगे।

श्रीस्वामी विवेकानन्दजीने ४० वर्षमें इस लोककी यात्रा समाप्त की और हम भारतवासियोंको अपने छोटेसे जीवनसे वह मार्ग दिखाया, जिसका अवलम्बन करनेसे हम पुनः अपनी पुरानी गौरवगरिमाको प्राप्त कर सकते हैं। स्वामीजीका यह उपदेश हम कदापि नहीं भूलेंगे,—"तुम प्रतिज्ञा करो कि, मरणपर्यन्त हम

देश और धर्मकी सेवा करते रहेंगे, संसारकी भलाईके लिये देह भी त्याग देंगे और फिर जन्म ग्रहण करें, तो इसी कार्यको पुनः करते रहेंगे। सत्य, ब्रह्मचर्य और सद्गुणोंके आगे विघ्न-बाधाओं-की दाल नहीं गल सकती।"

श्रीस्वामी रामतीर्थ।

"मैं देश हूं, राष्ट्र हूं, भारतवर्ष हूं। भारतभूमि मेरा शरीर है, लंका मेरे पैरका तलुआ और हिमालय मेरा शिर है। मेरे शिरके बालोंसे ही ब्रह्मपुत्रा और सिन्धु निकली हैं। विन्ध्याचल मेरा कमरबन्द है, पूर्वीघाट और पश्चिमीघाट मेरे दहने बांये पैर हैं, ईशान्य वायव्यप्रान्त मेरे स्कन्ध और उसके नीचे मेरी भुजाएं हैं। समस्त मानवजातिको आलिङ्गन करनेके लिये मैंने अपने दोनों हाथ उठाये हैं। मेरा प्रेम विश्वव्यापक है। खड़ा होकर अनन्त दिक्कालकी ओर मैं दृष्टि दौड़ाता हूं। अहा! मैं अन्तरात्मा-विश्वात्मा हूं। मैं जब चलता हूं, तो जान पड़ता है कि, सारा भारत चलता है, बोलता हूं तो जान पड़ता है कि, सारा भारत बोलता है, जब श्वास लेता हूं तो जान पड़ता है कि, सारा भारतवर्ष श्वास ले रहा है। मैं भारत हूँ, शंकर हूं, शिव हूं, यह भाव हृदयमें उत्पन्न होना ही स्वदेशा-भिमान कहलाता है और यही व्यावहारिक वेदान्त है।"

उक्त अमृत-वचन जिस महात्माके मुखसे निकले थे, उनका नाम स्वामी रामतीर्थ था। रामका जन्म ता० ८ अक्तूबर १८७३ (दिवाली १७९५ विक्रमीय) को मरालीवाला, जिला गुजरानवाला (पंजाब) में वसिष्ठ गोत्रोत्पन्न गोस्वामी पं० हीरानन्द नामक एक दरिद्र ब्राह्मणके घर हुआ। राम गौरवर्ण, सुन्दर और सतेज

थे। जन्मके थोड़े ही दिन पश्चात् रामकी माताका देहान्त हो जानेके कारण रामको उनकी भगवद्भक्तिपरायण फूआने पाला। राम कभी रोते तो, ॐकारके उच्चार या शङ्ख बजानेसे चुप हो जाते थे। इस लक्षण तथा जन्मकुण्डलीसे लोगोंने जान लिया था कि, यह कोई महात्मा है।

पंजाबकी प्रथानुसार राम "मकतब" में बैठाये गये। १० वर्ष-की अवस्थामें ही 'गुलिस्तां' 'बोस्तां' जैसे ग्रन्थ उन्होंने रट डाले और उर्दू तथा फारसी भाषाका अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

उर्दू फारसीकी शिक्षा समाप्त होनेपर गुजरानवालामें भगत धन्नारामके पास रहकर अङ्गरेजी स्कूलमें वे पढ़ने लगे। धन्नारामजी विद्वान् और वेदान्तके मर्मज्ञ थे। स्कूलकी पढ़ाईसे जो समय बचता, राम धन्नारामके पास बैठकर योगवासिष्ठ, महा-भारत, गीता आदि ग्रन्थोंका पारायण और उपदेश सुना करते थे। यहीं इन्ट्रेन्स पास कर लेनेपर पिताने कोई सरकारी नौकरी कर लेने का बहुत आग्रह किया, परन्तु सेवावृत्ति रामने स्वीकार नहीं की। इससे असन्तुष्ट हो, उन्हें पिताने घरसे निकाल दिया। राम सीधे लाहोर पहुँचे और कालेजमें पढ़ने लगे। इन्ट्रेन्समें इनका पहिला नम्बर आनेके कारण कुछ शिष्यवृत्ति मिलती और दो एक 'ट्यूशन' से कुछ आय हो जाती, यों उनकी पढ़ाईका खर्च निकल आता था। एफ. ए. में भी इनका पहिला नम्बर आया। पुनः शिष्यवृत्ति मिलने लगी। रामने बी. ए. की पढ़ाई आरम्भ कर दी। रामका विवाह बाल्यावस्थामें हुआ था। पुत्रवधू सयानी हुई जान, हीराचन्दने उसे रामके पास पहुँचा दिया। इधर मित्रों-के उत्साह दिलानेसे रामने बी. ए. में फारसी छोड़, संस्कृत लिया। दैववशात् बी. ए. में फेल हुए, शिष्यवृत्ति बन्द हो गयी। यद्यपि राम बहुत ही सादगीसे रहते थे, तथापि गृहस्थी और पढ़ाईके

लिये आवश्यक धनकी आय न होनेसे वे बड़े चिन्तित रहते थे। कभी कभी एकान्तमें बैठकर राम ईश्वरसे कहते,—"भगवन्! अब राम तुम्हारा है और तुम रामके हो। तुम्हारी इच्छाके वह बिलकुल विरुद्ध नहीं है। रामके शरीरपर अब उसका अधिकार नहीं है। वह अपना शरीर, मन, सब कुछ तुम्हें अर्पण कर चुका है। चाहे उसकी रक्षा करो, या मार डालो।" कुछ ही दिनोंमें रामके मौसा रघुनाथदासजीसे उन्हें सहायता मिलने लगी। राम बी. ए. पास हुए। पहिला नम्बर आया। ६०) रु० शिष्यवृत्ति मिलने लगी। रामका आर्थिक कष्ट दूर हुआ, वे एम. ए. में गणित लेकर पढने लगे। कुछ समयतक कालेजमें गणित पढ़ाते भी थे। क्रमशः एम. ए. पास हुए। एम. ए. में भी पहिला ही नम्बर आया।

एम्. ए. पास करलेनेपर उनके अध्यापकोंने परामर्श दिया कि, रैंगलर या सिविलसर्विसकी परीक्षा पास करने तुम विलायत जाओ, हम तुम्हें सरकारी सहायता दिला देंगे। परन्तु रामने यही कहा कि, मैं अपने जीवनको मूल्यवान् समझता हूँ। मुझे अध्यापक या धर्मोपदेशक बननेमें ही देहकी कृतार्थता जान पड़ती है। अन्ततः सियालकोट कालेजमें वे मुख्याध्यापक पदपर नियुक्त हुए। आध्यात्मिक उन्नति करनेमें दिनरात लगे रहनेके कारण अध्यापनमें अधिक समय बिताना उन्हें अखरने लगा। वे सन् १८६६ में विरक्त होकर हिमालयपर आत्मप्राप्तिके लिये चले गये। इससे पहिले अर्थात् सन् १८६७ में,—जब कि. एम्. ए. पास होनेपर उनसे अर्थप्राप्तिकी स्वाभाविक आशा पिताको हुई थी, रामने पिताको पत्र लिखा था,—"रामका शरीर बिक गया! अब राम अपना पराया कुछ नहीं समझता। आज दिवालीके दिन रामका शरीर श्रीकृष्णके चरणोंमें अर्पण हो गया। वे ही हम

गुसांइयोंका धन है। सच्चे धनको छोड़ कौड़ियोंके पीछे पड़ना और उनके न मिलनेपर दुःख करना भूल है। अपने मुख्य धनके आनन्दका एकवार अनुभव तो कीजिये।"

राम दो बार हिमालय गये और लौट आये, पर उन्हें आत्मानुभव नहीं हुआ। इस बीचमें द्वारकापीठके शङ्कराचार्य श्रीस्वामी माधवतीर्थका उन्हें सहवास हुआ। उनसे उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, और गीताका उन्होंने अध्ययन कर लिया। तीसरी बार हिमालय जाते समय रामने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली,—"अब आत्मानुभव हुए बिना राम नहीं लौटेगा। रामके स्वानन्दकी लहरमें या तो देश काल और निमित्त लोप हो जायंगे, या रामका शरीर ही श्रीगङ्गाजीमें अदृश्य हो जायगा। शरीर और मनका अब अन्त होगा।" गङ्गा तटपर पहुंचकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे रामने कहा,—"फूल और बतासेके बदलेमें राम अपनी हड्डियां और मांस गंगे! तुम्हारी भेंट करता है। मन बुद्धि तुम्हारे प्रवाहमें अर्पित है। राम अपने पाप-पुण्य जलाकर उसी ज्योतिसे तुम्हारी आरती उतारता है। यह अब तुममें ऐसा डूबता है कि, तुम्हारा रूप धारण करके ही पुनः आविर्भूत होगा। बस, जल-भूमि-आकाश सबको 'राम' बना कर छोड़ता हूं। तुममें-आत्मस्वरूपमें पूर्णरूपसे लीन न हो जाऊं, तो मेरा नाम 'राम' नहीं।

प्रबल तपस्या और आत्मानुसन्धानमें लग जानेसे रामको भगवत्साक्षात्कार हुआ। एकाएक वे बोल उठे,—"मैं धन्य हूँ धन्य हूं अहा! क्या ही आनन्द है! यह विवाहोत्सवका आनन्द है कि, मृत्युका शोक! सारे संस्कारोंपर अन्तिम संस्कार हो चुका। वासनाएं जल गईं, पाप-पुण्यकी शृंखलाएं टूट गईं, मन उन्मत हो गया, अज्ञानका परदा हट गया, प्रकाश! प्रकाश! सबभर प्रकाश है। हे भेद दुष्टे माये! दूर! दूर! मैं प्यारा—प्यारा! हो गया,

श्रीकृष्णका आत्मदेवका दर्शन हो गया। मैं नंगा वह भी नंगा! गले गले छातीसे मिले और खूब मिले। हे अस्थिचर्मके हृदय! तू बीच-से निकल जा, जिससे जीव और शिवकी भेट-पूर्णतादात्म्य हो"

राम उत्तराखण्डसे लौटकर एक धोती पहिने अमरनाथ गये। वहांसे लाहोर आकर सन् १९०० में 'अलफ' नामक एक मासिक पत्र निकाला पत्रकी तीन ही संख्याएं निकलीं। एकान्तवासकी इच्छासे राम टेहरी गये। साथमें स्त्री-पुत्र और शिष्य नारायण स्वामी भी थे। सभी गंगातटके एक बागमें रहने लगे, थोड़े ही दिनोंमें सहधर्मिणीका शरीर अस्वस्थ होनेके कारण राम लाहोर चले आये। सहधर्मिणीका शरीर दिन प्रतिदिन क्षीण होता गया। अन्तमें सन् १९०७ में अर्थात् रामकी समाधिके ७ महीने पश्चात् उनका देहान्त हो गया, सन् १९०१ में द्वारकापीठाधीश शंकराचार्यसे रामने संन्यास दीक्षा ग्रहण की। रामका जन्म नाम तीर्थराम था, सो अब रामतीर्थ हुआ। संन्यासी बनकर रामतीर्थ यात्रा करने निकले। यमुनोत्री, गंगोत्री, बदरी केदार, मथुरा, काशी आदि तीर्थ स्थानोंमें होते और धर्म प्रचार करते हुए राम टेहरीनरेशके आग्रहसे जापान पहुँचे। वहांके विद्वान् रामके उपदेशोंको सुन मुग्ध हो गये, वहांसे अमेरिका और फिर इजिप्ट जाकर उन्होंने अंग्रेजी और फारसी भाषामें वहांके लोगोंको भारतीय वेदान्तका परिचय करा दिया। जहां तहां रामकी प्रशंसाके लेख निकलने लगे। हजारों सत्पुरुष रामके शिष्य बने। अमेरिकामें भारतीय तत्वज्ञानका विचार करनेके लिये 'राम सभा' स्थापित हुई। इस प्रकार पौर्वात्य और पाश्चात्य राष्ट्रोंमें अपना तथा वेदान्तका प्रभाव जमाकर राम स्वदेश लौट आये और सन् १९०५ में हिमालयके व्यासाश्रम नामक तपोवनमें रहने लगे। यहीं रामने पातञ्जल भाष्य, सामवेद और निरुक्तका अध्यायन किया।

व्यासाश्रमसे सन् १६०६ में नारायण स्वामी सहित रामवशिष्ठाश्रममें चले गये,—जो हिमालयकी एक ऊँची चोटीपर है, और जहां पहुँचनेका मार्ग अत्यन्त बिकट है। ऐसे दुर्गम स्थानमें भी रामके भक्त उनके पास पहुंच ही जाते थे। पूरनजी, हरीशर्मा और जगत् रामजीने व्यासाश्रममें जाकर रामका दर्शनकर सत्संगका लाभ उठाया था। यहां राम आ बसे सही, परन्तु यहांका जल वायु उन्हें सहन नहीं हुआ। शरीर बहुत दुर्बल हो गया। केवल दूध पीकर वे रहने लगे, तो भी स्वास्थ्य नहीं सुधरा। तब भक्तोंके आग्रहसे पहाड़से उतरकर राम मालीदेवल ग्रामके जो टेहरीके पास ही गंगातटपर है केशवाश्रममें आ विराजे। यही सन् १६०६ अक्तूबर (दीपावली संवत् १६६३) को रामने जगदुद्धारका काम समाप्त कर श्रीगंगाजीमें जलसमाधि लेली। आठ दिन बाद रामकी बद्ध पद्मासन बांधी हुई देह मिली, जिससे स्पष्ट हुआ कि, उन्होंने जान बूझकर समाधि ली। जीवमात्रसे राम इतना प्रेम करते थे कि, शेर, सिंह, भालू, अजगर आदि हिंस्र पशु उनके पास रहते, पर कभी कष्ट नहीं देते थे। इसीसे वे कहते थे,—"मैं स्वयं मृत्यु हूं। बिना मेरी इच्छाके वह मेरा बाल भी बांका नहीं कर सकती। जबतक लोगोंके अन्तःकरणोंमें ब्रह्मविद्याका अंकुर न जम जायगा, तबतक इस देहकी कभी मृत्यु नहीं हो सकती।" उद्दिष्ट सिद्ध होते ही रामने अपनी ज्योति राममें मिला ली। इसका प्रमाण उन्हींके समाधि लेनेके ५-७ मिनिट पहिले लिखे लेखसे मिलता है। राम लिखते हैं,—"ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, गंगा, भारत हे मृत्यु! इस शरीरको चाहे तू बे खटके लेजा, मुझे इसकी बिलकुल पर्वाह नहीं। मेरे लिये दूसरे शरीरोंकी कमी नहीं है। चन्द्रमाके स्वच्छ शीतल और सूर्यके सुनहले किरण परिधान कर मैं आनन्दसे रहूँगा। पहाड़ी नदियों और झरनोंके रूपमें मैं गीत

गाता हुआ घूम सकूंगा । समुद्रकी लहरोंके रूपमें मैं बड़े आनन्दसे नृत्य करूंगा । मैं ही शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु हूं । मेरे ये सब रूप नित्य बदला करते हैं । पर्वतके शिखरसे मैं नीचे उतरा । मैंने दरवाजोंको खटखटाया । मृतोंको सजीव किया । सोनेवालोंको जगाया । गुलाबोंको हँसाया । बुलबुलोंको रुलाया । दुखियोंके आंसू पोंछे । कितनोंकी आंखोंपरका पर्दा हटाया । कितनोंको ओढ़ना ओढ़ाया । इसे छोड़ा, उसे छोड़ा । यहां गया, वहां गया । अन्तमें एक बारगी चला गया । मैंने अपने साथ कुछ नहीं रक्खा । मैं न किसीके हाथ लगा न लगूँगा ।" ऐसा ही हुआ, राम राममें लीन हो गये । भक्तोंने देहका सत्कार किया । ब्रह्मीभूत रामके वियोगसे सारा भारतवर्ष एकबार सेहर उठा !

राम हँसमुख थे । उनके हास्यसे दिव्य तेज टपकता था, और उसका लोगोंके हृदयोंपर दिव्य प्रभाव पड़ता था । मातृ हीन होनेके कारण बाल्यावस्थामें राम अशक्त थे, पर संयमसे पीछे उन्होंने इतना अधिक शरीर बल सम्पादन किया कि, २६००० फीट ऊंची हिमालयकी चोटीपर वे अनायास चढ़ जाते थे । रामने अपशब्दोंसे कभी किसीका हृदय नहीं दुखाया । ज्ञानकी तो वे मूर्ति ही थे । रामका सात भाषाओंपर अधिकार था, यथा संस्कृत, हिन्दी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, जर्मन और पाली । कहते हैं, रामको चारों वेद (सभाष्य) छहों दर्शन शास्त्र, ब्राह्मण, ग्रन्थ और उपनिषद कण्ठस्थ थे । इसमें सन्देह नहीं कि, वेद, दर्शन और उपनिषदोंका उन्होंने अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था । साथ ही क्याण्ट, हेगेल, गेटी, फिक्थ, स्पेन्सर, डार्विन, हक्सले आदि युरोपीय और शम्सतब्रेज, मौलाना रूम, हाफिज, सादी आदि मुसलमान तत्ववेत्ताओंके ग्रन्थोंके तत्व हृदयङ्गम कर लिये थे । कभी कभी

पौर्वात्य और पाश्चात्य तत्वज्ञानकी तुलना कर वे पाश्चात्योंके अधूरे सिद्धान्तोंका ठट्टा उड़ाते और कभी तुलसी, सूर, मीरा, नानक कबीर बुल्लाशाह तथा गोपालसिंहके भजनोंको गाया करते थे। केवल ३२ वर्षोंकी आयुमें इतना ज्ञान ईश्वरांशके बिना नहीं हो सकता।

रामका न कोई शत्रु था, न मित्र। यदि कोई शत्रुभावसे भी आता, तो उनसे मिलकर उनका मित्र बन जाता था। वे प्रेमी ऐसे थे कि, कागज, कलम, चाकू आदि जड़ पदार्थोंसे भी मनुष्यकी तरह बातचीत करते थे। व्याख्यान देते देते ॐ ॐ कहकर डोलने लगते और कट्टर नास्तिकोंके हृदयोंमें भी भक्तिका सञ्चार कर देते थे। उनकी वाणीमें असाधारण विद्युच्छक्ति विद्यमान थी। एक वार तो शीत ऋतुमें मथुरामें भारतधर्ममहामण्डलके वार्षिकोत्सवके समय सभाका समय समाप्त होनेके कारण उन्होंने यमुनाकी रेतीमें ही व्याख्यान देना आरम्भ किया। उत्सवमें सम्मिलित सभी धनी-निर्धन स्त्री-पुरुष रेतीमें आ डँटे, और ३—४ घण्टोंतक रामका व्याख्यान देहभान भूलकर सुनते थे। राम जैसे सुवक्ता वैसे सुलेखक भी थे। उनकी जीती जागती लेखनी मुर्दोंमें भी जान डाल देती थी। वे निरभिमान इतने थे कि, एक वार एक अमेरिकन सज्जन उनके लेखों और व्याख्यानोंकी प्रशंसामें प्रकाशित समाचार-पत्रोंके अवतरणोंका बण्डल उन्हें दे गये। उन्होंने वह बण्डल नदीमें बहा दिया; क्योंकि उन्हें आत्मप्रशंसा नहीं रुचती थी। अस्तु, रामकी इच्छा पूर्ण हुई। वे जगत्प्रसिद्ध धर्मोपदेशक और महात्मा हो गये। ऐसे ही महात्माओंसे भारतका शिर चिरकालसे उन्नत है और रहेगा।

रामका जगत्को अन्तिम यही सन्देश है,—"स्वावलम्बी बनिये और स्वतन्त्र हो जाइये; इसीमें आपका कल्याण है। पराधीनता

यही एक रोग है और धर्माचरण यही उसकी एकमात्र औषधि है। धर्म ही बड़े बड़े राष्ट्रोंको उन्नतिके शिखरपर पहुंचा देता है और जीवको मुक्त करता है। धर्मसे ही मनुष्य 'नरका नारायण' हो सकता है। ईश्वरभावमें रत हो जाइये; फिर आपको खेद करने या कष्ट उठानेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी। आप ईश्वर बनिये और दूसरोंको बनाइये। सत्य सिद्धान्तोंपर विश्वास कीजिये, श्रद्धा रखिये, आपके सारे दुःखोंका लोप हो जायगा। यदि आप सत्यको छोड़ देंगे, तो निश्चय जानिये कि, दुःखोंसे आपका छुटकारा कभी नहीं होगा।" यही रामके जीवनका सार सर्वस्व है।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक।

जगत्प्रसिद्ध स्वामी रामतीर्थका एक विज्ञापन
इस प्रकार है :—

आवश्यकता!

सच्चे सुधारकोंकी आवश्यकता है!
परन्तु वे दूसरोंके नहीं,
निजके सुधारक होने चाहिये।
अधिकार-सम्पन्न पुरुषोंकी आवश्यकता है!
परन्तु वे विश्वविद्यालयोंकी पदवियोंसे नहीं,
चित्तके संयमसे अधिकार-सम्पन्न हुए हों।
अवस्था:—दिव्यानन्दोन्मुख यौवन!
परन्तु केवल शारीरिक ही नहीं,
विशेषतया मानसिक तारुण्य होना चाहिये।
वेतन:—भगवत्प्राप्ति। कार्य्य:—स्वार्थत्याग।

शीघ्र आवेदन करो !

'भिक्षान्देहि' की वृत्ति छोड़कर,

अपना हक और अधिकार चाहो !!

पताः—चराचरका नियन्ता अर्थात् आत्मदेव !!!

ॐ ! ॐ !! ॐ !!!

राष्ट्रकी यह आवश्यकता लोकमान्य तिलकने निःसन्देह पूर्ण कर दी। भारत-भूमिमें सज्जनोंका रक्षण और दुष्टोंका दमन करनेके लिये जो अनेक आदर्श पुरुष हुए और होते हैं, उन्हें हम विभूति कहते आये हैं। लोकमान्यको यदि हम विभूति कहें, तो अत्युक्ति न होगी।

अध्ययन और कार्य्यारम्भ।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकका जन्म रत्नागिरी नगरमें जुलाई १८५६ में ता० २३ को हुआ था। आपके पिता उस नगरकी पाठशालाके मुख्याध्यापक थे। वे स्वयं अत्यन्त विद्वान् तथा सत्पुरुष थे, इस कारण उनके द्वारा बाल तिलकका लालन-पालन बड़ी योग्यताके साथ हुआ। सादगीसे रहकर उच्च विचारोंसे अपना जीवन उच्चतम बनानेका मधुर पाठ तिलकको बाल्यकालमें ही प्राप्त हो चुका था। सोलह वर्षकी अवस्थामें तिलक पितृ-विहीन हुए, परन्तु पिता अपने पुत्रको दारिद्र्यपङ्कमें छोड़कर नहीं चल बसे थे। इससे विद्याभ्यास करते समय उन्हें उदरनिर्वाहकी चिन्ता नहीं करनी पड़ी। आप १८७२ में मैट्रीकुलेशन, १८७६ में बी० ए० तथा १८७९ में एल० एल० बी० की परीक्षामें बड़े सम्मानके साथ उत्तीर्ण हुए। विद्याभ्यासके समयमें ही तिलककी असाधारण बुद्धिमत्ता लोगोंको विदित हो चुकी थी, और तभीसे उनके हार्दिक मित्रोंको विश्वास हो गया था कि, तिलक निःसन्देह लोकोत्तर पुरुष होंगे। जिस करनीसे नरका नारायण होता है, वह करनी बालने बाल्या-

वस्थासे ही आरम्भ कर दी थी। कालेजमें आपकी स्वर्गीय गोपालराव आगरकरजीसे मित्रता हुई। दोनोंमें घनिष्ठ प्रेम हो गया और दोनोंके उद्देश्य तथा आकांक्षाएँ भी एक ही स्थिर हुईं। दोनों महात्माओंने अपने जीवन मातृ-भूमिकी सेवामें अर्पण कर दिये। इसी समय पूनेके स्वर्गीय महर्षि श्रीविष्णुशास्त्री चिपुलनकरजीने बालकोंको राष्ट्रीय शिक्षा देनेके अभिप्रायसे एक पाठशाला स्थापन करनेके लिये एक सोसाइटी निकालनेका विचार किया। तदनुसार श्री० तिलक, श्री० आगरकरजी, श्री० चिपुलनकरजी तथा श्री० नामजोशीजी, इन चार व्यक्तियोंने १८८० जनवरी ता० २ को 'न्यू इङ्गलिस स्कूल' नामक पाठशाला तथा डेकन एज्युकेशन सोसाइटीकी स्थापना की।

बंगाल जैसे बुद्धिमान् प्रान्तोंमें जिन राष्ट्रीय कल्पनाओंका अब कहीं प्रादुर्भाव हो रहा है, वे कल्पनाएँ ५० वर्ष पहिले ही महाराष्ट्रमें प्रचलित हो गई थीं। महर्षि विष्णुशास्त्री चिपुलनकर वर्तमान राष्ट्रीय आकांक्षाओंके आद्य प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। राष्ट्रीय शिक्षाकी प्रथम कल्पना उन्हींकी है। जनसाधारणको शिक्षित करनेका काम 'मराठा' 'केसरी' करही रहे हैं। स्वदेशी व्रतके प्रचारक स्वर्गीय सार्वजनिक काका और श्री० इन्दापुरकर देशपाण्डे थे। दोनोंने स्वदेशीवस्तुप्रचारमें प्राणपणसे यत्न किये थे। सार्वजनिक काकाकी स्थापित एक पञ्चायत (लवादकोर्ट) अब भी पूनेमें अपनी प्राचीनताकी साक्षि दे रही है। स्वर्गीय नामजोशीके औद्योगिक अथवा कलाकौशलसम्बन्धी यत्न भारतके पुराने अगुआओंसे छिपे नहीं हैं। सारांश राष्ट्रीय भावनाओंकी जागृति महाराष्ट्रसे आरम्भ हुई है। अपनी बुद्धिमत्ता और वीरतासे सम्पूर्ण भारतमें दिग्विजय करनेवाले महाराष्ट्रोंको अभी स्वराज्यका विस्मरण नहीं हुआ है। स्वराज्यकी रूपरेखा उनके सामने है।

स्वराज्यप्राप्तिके यत्न उन्हींसे आरम्भ हुए, इसका कारण यह है कि, स्वराज्यकी कल्पनाएँ उनके चिर परिचयकी हैं। महर्षि चिपुलनकर आदि तिलकके सहयोगियोंके देहान्त हो जानेपर सबके आरम्भित कार्य्य अकेले इन्हींपर आ पड़े और उन्हें इन्होंने ४० वर्षोंतक सफलताके साथ निबाहा। यही नहीं, किन्तु उनके बोये हुए बीजोंके तिलकने प्रचण्ड हरे भरे वृक्ष बना दिये।

अस्तु, ऐसे देशभक्त महात्माओं द्वारा परिचालित पाठशालाकी बहुत ही शीघ्र उन्नति हुई और सन् १८८८ में उसके साथ ही एक कालेज खोला गया, जिसका नाम 'फर्ग्युसन कालेज' रक्खा गया। इस पाठशाला तथा कालेजमें तिलक यद्यपि गणितके अध्यापक थे, तथापि कभी कभी संस्कृत तथा रसायनशास्त्र भी सिखाते थे। शिक्षकका कार्य्य करते समय ही तिलक लोकमान्य हुए। विद्यार्थियोंको पढ़ाते समय वे अपने विषयमें इतने रंग जाते थे कि, अबोध विद्यार्थी समझते हैं या नहीं, इसका उन्हें विचार नहीं रहता था। कभी कभी ऐसा भी होता था कि, अत्यन्त जटिल सिद्धान्तोंका आकलन वे विद्यार्थियोंको अत्यन्त सुगम रीतिसे करा देते थे, जिससे उनकी लोकमान्यता अधिक बढ़ गई थी, तथा उनपर हर एक विद्यार्थी प्रेम करने लगा था। सोसाइटीके प्रथम निश्चित सिद्धान्तोंमें मतभेद होनेके कारण तिलकने सन् १८६० में स्कूल तथा कालेजसे अपना सम्बन्ध छोड़ दिया। वे चाहते थे कि, सोसाइटीकी यथार्थ उन्नति होनेके लिये उसके सभासदोंको उसीके कार्यमें अपनी समस्त शक्ति लगा देनी चाहिये। विद्यालयके समयमें छात्रोंको पढ़ाकर शेष समयमें ग्रन्थ लिखे जांय और उनकी आमदनीसे संस्थाकी धनकी वृद्धि की जाय। इसके अतिरिक्त वे सरकारसे सहायता (Grant) लेनेके विरुद्ध थे। क्योंकि सार्वजनिक संस्थाओंमें सरकारका हस्तक्षेप होनेसे उनकी स्वाधीनता

नष्ट हो जाती है। यद्यपि सरकार जो सहायता देगी, वह जन-साधारणकी ही है; उसका स्वीकार करना अनुचित नहीं, पर उससे यदि संस्थाकी स्वतन्त्रामें बाधा पड़ती हो, तो उसका न लेना ही अच्छा है। उनके ये विचार सहकारियोंको पसन्द नहीं हुए, इससे तिलकने संस्था छोड़ दी। परिणाम यह हुआ कि, उनके पश्चात् संस्था द्वारा कुछ स्वार्थत्यागी महापुरुष अवश्य ही उत्पन्न हुए, पर उसका वह उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सका, जो पहिले निश्चित हो गया था। अर्थात् इङ्गलिश स्कूल या फर्गुसन कालेजमें राष्ट्रीय शिक्षाका अभी तक कोई प्रबन्ध नहीं हो सका है। 'केसरी' 'मराठा' के सम्पादक तिलक और 'सुधारक' के सम्पादक आगरकर थे। धार्मिक और सामाजिक विषयोंमें मत-भेद होनेके कारण दोनों मित्र केवल तत्त्वोंके लिये अपने अपने पत्रों द्वारा एक दूसरेपर हमला किया करते थे। तथापि उनके हृदयोंमें परस्परके प्रति अत्यन्त प्रेम, विश्वास तथा आदर था। जर्मन तत्त्ववेत्ता हेगेल एक स्थानपर कहता है:—'श्रेष्ठ पुरुषका सच्चा दुःख उसकी विपत्तियोंमें नहीं, किन्तु दो प्रतिस्पर्धियोंके उन दुःख-दायी मतोंके द्वन्द्वमें है, जो विभिन्न मत दोनों अपनी अपनी दृष्टिसे सत्य समझते हैं, और विभिन्न दृष्टिसे देखनेपर उभय पक्षके वे मत यथार्थ भी प्रतीत होते हैं।' इसी तरहका तिलक आगरकरजीके मध्यमें युद्ध हुआ।

कष्टोंका आरम्भ।

तिलकने 'मराठा' और आगरकरजीने 'केसरी' में महाराजा कोल्हापुरके साथ सरकारकी ओरसे जो अन्यायका बर्ताव हुआ, उसपर निर्भीक और मार्मिक लेख लिखे थे। इसपर 'बर्वे' नामक उस समयके कोल्हापुरके कारभारीने दोनों देशभक्तोंपर राज-द्रोहका मामला चलाया, जिससे दोनोंको सौ दिनोंतक 'डोंगरी'

के कारावासमें कष्ट सहने पड़े। यहींसे तिलकके कष्टोंका प्रारम्भ हुआ। लोकसेवाका फल वे भोगने लगे।

ईसाकी १६ वीं सदीके अन्त और २० वीं सदीके आरम्भमें राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक आदि प्रायः सभी भारतीय आन्दोलनोंके तथा सुधारोंके केन्द्र तिलक थे। अंग्रेज अधिकारियोंने हमारी पूर्व-परम्पराको अनेक चालाकियोंसे नष्ट करनेका जब उपक्रम किया, तब तिलकको भी उनकी युक्तियोंके विध्वंसनका कार्य आरम्भ करना पड़ा। अधिकारियोंके पास प्रचण्ड राजसत्ता तथा तिलकके पास सत्य, न्याय, आत्मविश्वास एवम् लोकमतका प्रबल बल होनेसे ही उभय पक्षकी युक्ति-प्रतियुक्तियोंका द्वन्द इतने दिनोंतक टिक सका। जिनके रक्तमें राजनीतिका कोई संस्कार नहीं, ऐसी निम्न श्रेणीकी जातियोंको ऊपर उठाकर अधिकारियोंने उन्हें अपना लिया, इससे राष्ट्रीय तेजोभंग करनेमें उन जातियोंसे अधिकारियोंको मनमानी मदद मिल सकी। जिनके पूर्वजोंकी आर्थिक दशा गिरी हुई थी, वे छोटे मोटे पद पानेसे ही खुदको श्रेष्ठ समझने लगे और देशके बैरी बन बैठे। स्वराज्यप्रिय राजाओंके कितने ही राज्य छीन लिये गये। मध्यम श्रेणीके लोगोंको अपने अनुकूल और देशके प्रतिकूल देशके ही धनसे शिक्षा दी जाने लगी। यों उच्च, मध्यम एवम् निम्न श्रेणीकी सभी प्रजा निरी बुद्धू बनाकर छोड़ दी गई। इन सब बातोंका तिलकने देशको यथार्थ ज्ञान देकर देशवासियोंको पुनः कर्तव्यपथपर आरूढ़ कराया और समाजमें नवीन जागृति उत्पन्न कर अनेक कष्टोंको सहते हुए प्राचीन परम्पराकी रक्षा की। इस उद्योगमें तिलकका चरित्रबल विशेष कार्यकारी हुआ। उनकी गम्भीर मूर्ति, ओजस्वी व्याख्यान, तेजस्वी लेख, असाधारण प्रतिभा, महाराष्ट्रियोंके योग्य अद्भुत

करारापन निरलस परिश्रम, लोकोत्तर बुद्धि, निष्कलंक नीति, अनुपम साहस, अद्वितीय मनोनिग्रह, अतुल शान्ति, अगाध ज्ञान, उज्वल देशाभिमान, उत्कट स्वराज्यलालसा, अखण्ड आत्मविश्वास, अटल सत्यनिष्ठा, अचल धर्मश्रद्धा, पवित्र स्वार्थत्याग आदिका ही फल है कि, समग्र भारतवर्ष आज एक कण्ठसे स्वराज्य प्राप्तिके लिये उत्कण्ठित होकर तिलकके यशोगानकी तानें अलाप रहा है।

स्कूल और कालेजसे सम्बन्ध छोड़नेपर तिलकने पूनेमें लाक्लास खोला। इस कार्य्यमें उन्हें बड़ी सफलता प्राप्त हुई। लाक्लासमें कुछ नियत समयतक कार्य्य करनेके उपरान्त वे अपना समस्त समय और शक्ति 'केसरी' के सम्पादनमें लगाने लगे। इसी बीचमें 'एज आफ कन्सेण्ट' (Age of Consent Bill) नामक बिल बड़ी कौन्सिलमें पेश हुआ था। इस बिलके साथ हिन्दू समाजका अत्यन्त निकटका सम्बन्ध होनेके कारण धार्मिक हिन्दुओंने उसका प्रतिवाद किया। सामाजिक तथा धार्मिक बातोंमें सरकारको हस्तक्षेप करना उचित नहीं है, हिन्दुओंके इस कथनका तिलकने समर्थन करते हुए उक्त बिलका बड़े जोरोंके साथ प्रतिरोध किया। फल यह हुआ कि, तिलकपर उनके धर्मबन्धुओंकी अटल श्रद्धा जम गई और तबसे वे लोकनायक कहलाने लगे।

'केसरी' का इस समय महाराष्ट्रमें बड़ा आदर बढ़ गया था। इसका कारण 'केसरी' के प्रभावशाली लेख ही नहीं, किन्तु उसके सम्पादककी कार्य्यकुशलता तथा निरलस देशभक्ति ही है। बापट-केस, बाम्बेप्राविन्शियल कान्फरेन्स, रायगढ़ नामक स्थानमें श्रीछत्र-पति शिवाजी महाराजका मन्दिरनिर्माण तथा सर्वसाधारणकी ओरसे किये हुए म्युनिसिपालिटीके कार्योंसे उनकी तथा उनके पत्रोंकी कीर्ति अधिक बढ़ी और वे महाराष्ट्रकी एक शक्ति समझे जाने लगे।

दुबारा कारावास और दृढ़ता।

सन् १८९७ ता० २२ जूनको मि० रैण्ड और लैफ्टनेण्ट आयर्स्टका खून हुआ। पूनेमें बड़ी हलचल मची। उस समय प्लेग-निवारणके लिये सरकारने जो प्रबन्ध किया था, उससे अधिकारियों द्वारा प्रजाको बहुत कष्ट पहुंचे, उसीका फल यह खून था। इससे सरकारकी भावना हुई कि, इस अत्याचारके साथ नेताओंका अवश्य सम्बन्ध है। ऐसी अवस्थामें बम्बईमें बलवा हुआ। उसके तथा शिवाजीउत्सवके विषयमें तिलकने 'केसरी' में ओजस्वी लेख लिखे। शिवाजीउत्सव तथा गणेशउत्सव तिलकने सार्वजनिक रीतिपर करना आरम्भ किया। जिसका अनुकरण भारतमें ही नहीं, किन्तु जापानमें भी हुआ, इससे उक्त उत्सवोंकी लोकप्रियता प्रकट होती है। परन्तु यह बात सरकारको पसन्द नहीं हुई। सरकारने तिलकके लेखोंपर सन् १८९७ में राजद्रोहका मामला चलाया और नौ जूररोंमेंसे छः जूररोंने—जो सब अंग्रेज थे—उन्हें अपराधी ठहराया। बाकी तीन जूरर—जो हिन्दुस्थानी थे—उनके मतसे वे निरपराध थे। जस्टिस स्ट्राचीने अंग्रेजोंका मत ही प्रमाण मान तिलकको अठारह मासतक कठिन कारावासका दण्ड दिया। हाईकोर्ट तथा प्रीवी कौंसिलमें अपील की गई, परन्तु कोई फल न हुआ। पश्चात् प्रो० मेक्समूलर तथा अन्य आंग्ल सज्जनोंके प्रयत्नसे वे १८९८ सितम्बर ता० ६ को बन्धमुक्त किये गये।

अंग्रेज सज्जन जब हमारा पक्ष लेते हैं, तब वे भी राज्यकर्ताओंकी दृष्टिसे गिर जाते हैं, इसके प्रमाण अनेक हैं। सन् १७९४ में बंगाल जरनलके सम्पादक श्री० डब्लू. ड्यूएन, सन् १८२३ में श्री जे. एस. बंकिंघम सन् १८२४ में श्री० सेण्डफर्ड अर्नाट और श्री० जे. एस. फेयर साहबको भारतके अनुकूल और सरकारी उद्दण्ड अधिकारियोंके प्रतिकूल स्पष्ट टीकालेख

लिखनेके अभियोगमें देशनिकालेका दण्ड दिया गया था। श्री० रावर्ट नाइट सरकारी नौकर थे और 'इण्डियन एकानमिस्ट' नामक पत्रका सम्पादन करते थे। उन्हें पहिले कड़े लेख न लिखनेकी सूचना दी गयी। फिर कुछ लालच दिखलाई गयी। अन्तमें अधिकारियोंने २५ हजार रुपयोंमें वह पत्र खरीदकर बन्द कर दिया। तो भी नाइट साहब चुप नहीं हुए। 'फ्रेण्ड आफ इण्डिया' और 'स्टेट्स् मेन' खरीद कर उन्होंने दोनोंको एकमें मिला दिया और उसके द्वारा भारतनिवासियोंका हितसाधन करने लगे। यह देख अधिकारियोंने एक नया कानून बनाया कि, कोई सरकारी नौकर समाचारपत्रका सम्पादन न करे। तब कहीं नाइट साहबका आन्दोलन बन्द हुआ। इस प्रकार अधिकारियोंने किसीको कठिन दण्ड देकर, किसीको लालच दिलाकर और किसीके लिये नये कानून बनाकर अंग्रेज सज्जनोंको हमारा हितसाधन करनेसे वञ्चित किया।

जिन्हें हमारे लिये न्यायप्रियता उधार लानी पड़ी थी। उन अंग्रेजोंकी यह दुर्दशा देख, जो न्याय किस खेतकी मूली है, यह भी नहीं जानते थे, उन्होंने अंग्रेजी अखबारोंका ठेका लेकर अधिकारियोंको प्रसन्न रखनेके लिये प्रजाद्रोह करना आरम्भ किया। और बंगाली, पंजाबी, हिन्दु आदि पत्र डर कर नरम बन गये। यों देशके सभी पत्रोंपर प्रेसऐक्ट जैसे नये नये कानून लादकर, सम्पादकोंको भय दिखाकर और जो दण्ड देकर अधिकारियोंने सर्वसाधारणके स्पष्ट विचारोंके प्रवाहको रोका और हमारी आकांक्षाओंके बीजको ही नष्ट कर देना चाहा। परन्तु तिलकने अपने 'मराठा' और 'केसरी' की नीति बिलकुल नहीं बदली। उनके विद्वान् पुत्रका प्लेगमें देहान्त हुआ। आप केसरीका लेख लिख

रहे थे। ऐसे भयानक प्रसंगमें एक अक्षर भी लिखना मनुष्य-हृदयके लिये असम्भव है, परन्तु तिलकने पहिले लेख समाप्त किया और पीछे पुत्रशवदाहकी तैयारी की। केसरीके कारण तिलकको तीन बार कारावास भोगना पड़ा और हज़ारों रुपयेकी जमानत भरनी पड़ी। इतने कष्ट सहकर और विपत्तियोंसे समना कर 'केसरी' के सिवा भारतकी किसी भाषाका कोई पत्र जीवित नहीं है। तिलकके कारावाससे उन्हींकी इस उक्तिके अनुसार कि—"जूरीने चाहे जैसा निर्णय क्यों न किया हो, किन्तु मेरी मनोदेवता मुझसे अभी तक यही कहती है कि, मैं पूर्ण निर्दोष हूं। अपार सृष्टिपर इस न्यायालयसे अत्यन्त श्रेष्ठ ईश्वरीसत्ताका प्रभुत्व है। यह ईश्वरी संकेत जान पड़ता है कि, मेरी स्वतंत्रताकी अपेक्षा मेरे दुःख-कष्टोंसे ही मेरा अङ्गीकृत राष्ट्रकार्य अधिक सफल हो!" जनतामें अच्छी जागृति उत्पन्न हुई और आज केवल महाराष्ट्र ही नहीं, समग्र भारतवर्ष धार्मिक और प्राचीन आदर्शोंका जाननेवाला बन गया है। 'चित्ते वाचि क्रियायां च महतामेक-रूपता' यह भवभूतिकी उक्ति लोकमान्यपर ही चरितार्थ होती है।

लोकसंग्रह और सत्यनिष्ठा।

तिलकको स्वजन और दुर्जन दोनोंने शक्तिभर दुःख दिया, परन्तु उन्होंने किसीसे वैर नहीं बांधा। जिनके जिस बातमें मत मिलते जुलते हों, उनके साथ उन मतोंके लिये वे सहकारिता करते थे। इसी क्रमसे लोकसंग्रह कर उन्होंने देशमें राष्ट्रीय संघटन किया और लोगोंको वाणीकी तरह करनी करनेमें प्रवृत्त किया। प्राचीन संस्कृतिका अभिमान होनेसे वे पक्के सनातनी थे। धर्म और नीतिकी जिनसे वृद्धि हो ऐसे सुधारोंका वे मौखिक पक्ष ही ग्रहण नहीं करते, किन्तु उन्हें आचरणमें परिणत करते थे। वे 'विजितस्मर' और गृहस्थ थे। गुलामीके मार्गका अवलम्बन न कर स्वतन्त्रताके

साथ ब्राह्मणोचित पठन-पाठनके व्यवसायमें निर्लोभ होकर वे अपनी गृहस्थी चलाते थे। केसरीकी सम्पत्ति वे सर्वसाधारणकी सम्पत्ति समझते थे। पैसाफंड, सार्वजनिक सभा आदिका हिसाब जांच कर उनकी सरकारने भी तारीफ की थी और उनके विशुद्ध आचरणकी शत्रुओंको भी प्रशंसा करनी पड़ती है। साबरमतीकी जेलमें अन्यान्य कैदियोंने इनको बजरेकी रोटी घासके साथ खाते हुए देख कर, रोते हुए कहाः—'महाराज ! आपको इस दशामें देख कर, हमें बहुत दुःख होता है,। तिलकने उत्तर दियाः—'यह रोटी भी मेरे सात करोड़ भाईयोंको मयस्सर नहीं है। तुम मेरे लिये क्यों दुःख करते हो, उनके लिये करो। उनसे मेरी दशा सन्तोषजनक है,।

जो लोग अधिक काम करते हैं, उन्हें फुरसत कम होनेका एक बहाना मिल जाता है. परन्तु तिलक सदा काममें और सदा खाली रहते थे। चाहे गरीब हो या अमीर, विद्वान् हो या मूर्ख, सबसे आदरके साथ सब समयमें मिलते और उनका सत्कार करते थे। इस झोंकमें कई बार खुफिया पुलिस भी उनका आतिथ्य ग्रहण कर लेती थी। उनके खुले आन्दोलनकी खुफिया पुलिसके अंग्रेज अफसरोंने भी समय समयपर प्रशंसा की है। इससे स्पष्ट होता है कि, सरकारके मनमें भी अप्रत्यक्ष रीतिसे तिलकके प्रति श्रद्धा थी। वे खुदको विद्यार्थी समझते थे। स्वदेशी आन्दोलनके समयमें उन्होंने अपने एक व्याख्यानमें कहा था कि, मैं विद्यार्थी हूं और अपना यह अधिकार मैं अपने हाथसे जाने नहीं दूंगा। कारावाससे छूटनेपर तिलक मद्रास कांग्रेसके अधिवेशनमें सम्मिलित हुए। लंका (Ceylon) का प्रवास किया। पूनेमें लौटनेपर उन्होंने पुनः शिवाजी उत्सवका कार्य उठाया। परन्तु उत्सवका कार्य ज्यों ही उन्नतिशील हो रहा था, त्यों हीं एक घरेलू मामलेमें उनको दुष्ट लोगोंने अटका

दिया। ताई महाराज नामक एक प्राचीन सरदार घरानेकी विधवाके मृत पति बाबा महाराज तिलकके हार्दिक मित्र थे। मृत्युके समय उन्होंने अपनी संपत्ति ट्रस्टियोंके अधीन कर दी थी। उन ट्रस्टियोंमें तिलक भी एक थे। ट्रस्टीके नाते इन्होंने भी अपने अन्य सहकारियोंकी तरह ताई महाराजको दत्तकपुत्र लेनेकी अनुमति दी थी। परन्तु उस बुद्धिमती स्त्रीने प्रथम एक दत्तकपुत्र ग्रहण कर कुछ दुष्टोंके कहनेसे एक दूसरा बालक भी गोद लिया और पहिले लिया हुआ दत्तक सम्पत्तिका सच्चा अधिकारी नहीं है, यह सिद्ध करना चाहा। तिलक तथा उनके सहकारियोंपर 'बेईमानी' करने तथा अनधिकार दबाव डालनेका अपराध लगाकर उनपर मुकद्दमा चलाया गया। इसमें तिलकको अठारह मासकी कठिन कारावासकी सजा दी गई, परन्तु हाईकोर्टमें अपील होनेपर वे निर्दोष होकर छूट गये। दीवानीमें यह मुकद्दमा सन् १८९५ तक चला। १८१८ में प्रीवी कौंसिलसे इस मामलेका फैसला हो गया और तिलक उसमें विजयी हुए।

स्वदेशाभिमानियोंको हम तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं। (१) सरकारसे प्रत्यक्ष युद्ध कर देश-कल्याण करनेवाले, (२) राजनैतिक बातोंकी ओर दुर्लक्ष्य कर सामाजिक सुधारसे देशहित साधनेवाले और (३) नरम दलके वे लोग जो निरे कागजी घोड़े दौड़ाकर देशका गौरव बढ़ानेकी आशा रखते हैं। पहिली श्रेणीमें नानासाहब पेशवा, तात्या टोपे, झांसीकी रणदुर्गा स्वदेशाभिमानी महारानी, नरगुन्दके प्रतापी भावे आदि लोगोंसे लेकर अन्तिम टण्ट्या भील तककी गणना हो सकती है। दूसरी श्रेणीमें श्रीस्वामी दयानन्द, श्री० ईश्वरचन्द्र आदि और तीसरी श्रेणीमें मि० ह्यूम, मि० वेडरबर्न आदिके चेलाचाँटी हैं। तिलककी नीति इन तीनों प्रेमियोंसे भिन्न थी। कट्टर सनातनी होनेपर भी बिना राजनैतिक सुधारोंके धार्मिक या सामाजिक

सुधार हो नहीं सकते, यह विधान सन् १९०८ के महामण्डलके महाधिवेशन जैसे प्रसङ्गोंमें तिलकने निडर होकर किया था। उस समय लोगोंको इस उक्तिकी सत्यता प्रतीत नहीं हुई, परन्तु आज राजनैतिक आन्दोलनकी मर्यादावृद्धि और धार्मिक अथवा सामाजिक सुधारोंके कार्यक्षेत्रका सङ्कोच ही उनके कथनकी सत्यता प्रकट कर रहे हैं। मि० ह्यूम आदिके उपदेशके अनुसार लोगोंने तिलकके सिद्धान्तोंकी ओर आनाकानी कर २० वर्षों तक उद्योग किया। लाखों अर्जियां भेजीं, सैकड़ों सभाओंमें हजारों प्रस्ताव पास किये, इंगलैंडकी प्रजाको सोतेसे जगाया, परंतु फल कुछ नहीं हुआ। हिन्दुस्थानमें एक सूई गिरनेसे विलायतमें उसकी आवाज पहुंचती है, परंतु करोड़ों लोग भूखों मर रहे हैं, उनकी हृदयविदारक करुणध्वनि राज्यकर्ताओंके कानोंतक नहीं पहुंचती, इसका जब लोगोंको आश्चर्य होने लगा, तब तिलकके सिद्धांत सर्वसाधारणको सारगर्भित प्रतीत हुए। नरम अर्थात् प्रतिष्ठालोलुप लोग राजपक्षको छोड़, सत्य अर्थात् राष्ट्रीय स्वार्थत्यागी प्रजापक्षमें आ मिले। यही सच्ची देशहितैषी श्रेणी है। इसीकी स्थापना लोकमान्यने की। भारतके अन्यान्य अगुआओंने अनुकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर कार्य आरम्भ किया, किन्तु लोकमान्य परिस्थिति निर्माण करनेवाले महात्मा थे। लोकमान्यने सिद्ध कर दिया कि, चतुर राजनीतिज्ञ अगुआ, उनकी शिक्षासे जागृत हुआ विचारवान् परन्तु आर्थिक और बौद्धिक दृष्टिसे मध्यम श्रेणीका जनसमाज और अत्याचारोंसे चिढ़ा हुआ मजदूरोंका दल इन तीनोंकी शक्ति जब एकत्रित हो जाती है, तब उसपर केवल तलवारके जोरपर शासन करना कठिन हो जाता है।

कर्मवीरता और तीसरी बार जेल।

बीसवीं शताब्दिका प्रारम्भ ही घटनापूर्ण है। १९०५ के अन-

न्तर इन घटनाओंका नम्बर बहुत ही बढ़ गया। स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्यकी दुन्दुभी चारों ओर बजने लगी। लोकमान्य तिलक इन तत्त्वोंके जनक तथा सच्चे पुरस्कर्ता थे। लोकमान्य अद्भुत वक्ता नहीं थे, किन्तु उनका एक एक शब्द बिजलीका काम करता था। गिरगिटानकी तरह हर मौसिममें अपने मतोंका रंग बदलने वाले सैकड़ों प्रचण्ड वक्ताओंके हजारों व्याख्यानोंसे जो काम नहीं हो सका, वह उनके एक शब्दसे हुआ। लखनऊमें हिन्दु मुसलमानोंको एक करते समय उनकी इस योग्यताका परिचय वहाँपर उपस्थित हुए भाग्यशाली सत्पुरुषोंको हो गया है। ४० वर्षों तकके लगातार अभ्यास, अनुभव और पुरुषार्थसे हर एक विषयपर बोलनेका उनको अधिकार प्राप्त हुआ था। उनकी चेतन शब्दरचना, विशुद्ध भाषा, चित्तकी सरलता और देशाभिमानपूर्ण विषयकी प्रतिपादनशैलीका परिणाम लोगों-पर ऐसा हो जाता कि, फिर वह इच्छा करनेपर भी मिट नहीं सकता था। उनकी रसमयी वाणी और प्रतिभापूर्ण लेखनीने मराठी भाषामें क्रान्ति कर डाली। उनकी परिणामकारी वक्तृता और लेखन कलाकी तुलना कमसे कम इस समयके किसी महा-पुरुषकी वाणी अथवा लेखनीके साथ नहीं की जा सकती।

तलेगांवमें जो समर्थ विद्यालय (राष्ट्रीय शिक्षा देनेवाला विद्यालय) खोला गया था, उसके संचालकोंमें तिलक प्रधान थे। पैसाफंडकी कल्पना उन्हींकी थी। उसमें आपको इतनी सफलता प्राप्त हुई कि, आज एक विशाल कांचका कारखाना उस फण्डके द्वारा चल रहा है। स्वदेशी आन्दोलन भी उन्होंने इतना बढ़ाया कि, महाराष्ट्रमें सैकड़ों स्वदेशी दूकानें खुल गयीं और स्वदेशी वस्तुका व्यवहार जो न करे, उसकी सर्वत्र हंसी होने लगी।

सन् १९०८ में फिर सरकारकी उनपर 'मेहर नजर' हुई। इसी

वर्षके जुलाई मासमें सरकारने उनपर राजद्रोहका मामला चलाया और जस्टिस दावरने उन्हें छः वर्षके लिये देशनिकालेका दण्ड दिया। दावरने उस समय जैसे घृणित शब्दोंका उच्चारण किया था, भारतवासियोंका हृदय विदीर्ण करनेवाले वैसे शब्द और कभी नहीं सुने गये थे। वृद्धावस्थामें लोकमान्यको जो दण्ड दिया गया, उससे समस्त देश विद्युत्के आघातकी तरह हिल गया और सर्वत्र हाहाकार सुनाई देने लगा। विशेषतया महाराष्ट्रमें दुःख, उद्वेग और अशान्ति बहुत फैल गई। बम्बईमें कुछ पुलिसकर्मचारियोंके अन्यायपूर्ण बर्ताव तथा अदूरदर्शितासे बलवा हो गया। प्यारे तिलकके लिये बेचारे पुतलीघरोंके मजदूरोंने अधर्मचारियोंके छुरोंसे प्राण विसर्जन किये। कुछ सप्ताह बारामतीके जेलखानेमें रखकर, अनन्तर लोकमान्य चुपचाप स्पेशल स्टीमरसे मन्दालयमें भेज दिये गये। स्टीमरमें जो तिलकसे बर्ताव किया गया, वह उनकी योग्यता और प्रकृतिके लिये अयोग्य था। परन्तु मण्डालेमें बर्ताव कुछ अच्छा रहा। सजा सादी कर दी गई और घरके कपड़े पहिरने तथा पुस्तकें पढ़नेकी आज्ञा मिल गई। इस कृपासे ही 'गीतारहस्य' जैसा ग्रंथराज वे लिख सके। लोकमान्य १९१४ में अवधिसे लगभग एक मास पहिले छोड़ दिये गये। भारत-सम्राट्के राज्यारोहणोत्सवप्रसंगपर अन्यान्य अभियुक्तोंको रिहाई दी गई, किन्तु तिलक कारावासमें ही उत्सव मना रहे थे।

ग्रन्थ-रचना।

समाचारपत्रोंका सम्पादन और राजनैतिक कार्य्य करते हुए साहित्य-सेवा करनेके लिये और विशेषतया 'इतिहास संशोधन' जैसे कठिन कार्य्यके लिये समय मिलना ही असम्भव है। परन्तु तिलकने समयमें समय निकालकर इतिहाससंशोधन कर "ओरायन" और "आर्टिक होम इन् दि वेदाज" ये दो लोकमान्य

ग्रंथ लिखे। इन ग्रन्थोंके अन्तिम भाग १८९७ में जेलखानेमें तैयार हुए थे और कारावाससे छूटनेपर कुछ मास पश्चात् वे प्रकाशित किये गये। इन ग्रंथोंके विषयमें विशेष चर्चा करनेकी आवश्यकता नहीं। केवल दो यूरोपीय विद्वानोंके मतोंको उद्धृत कर देनेसे उनका स्वरूप पाठकोंको ज्ञात हो जायगा। जानहापकिन युनिवर्सिटीके अध्यापकने एक वार्षिकोत्सवके समय 'ओरायन' के विषयमें कहा था:—

"दो तीन मास हुए एक साहित्य-विषयक घटना हुई है। जिससे वैज्ञानिक संसारमें बड़ी खलबली मच जायगी। करीब दस सप्ताह हुए, मेरे पास हिन्दुस्थानसे एक पुस्तक आई है। जिसकी छपाई, सफाई आदि अच्छी नहीं है। वह हिन्दुस्थानके एंग्लोइंडियन प्रेसमें छपी है। वह पुस्तक ग्रंथकारने मेरे पास श्रद्धासे भेजी है। ग्रंथकारका नाम विशेष प्रसिद्ध नहीं है। मैंने उनका नाम अबतक नहीं सुना था। ग्रंथकार हैं, श्रीयुत बाल गंगाधर तिलक बी. ए. एल.एल. बी. ला लेक्चरर पूना और प्रकाशक हैं, श्रीमती राधाबाई आत्माराम सगुण, बम्बई। पुस्तकका नाम "ओरायन" अथवा "वेदोंकी प्राचीनता" है। यह पुस्तक मैंने ऐसी जगह रख दी कि, जहां मेरा विशेष ध्यान नहीं रहता। रोजके ऐसे रद्दी समाचारपत्रोंमें मैंने उसे फेंक रक्खा था, जो महत्त्वपूर्ण नहीं होते। पुस्तककी प्रस्तावना भी उत्तेजक नहीं थी। ग्रन्थकारका मत है कि, ऋग्वेद ईसासे चार हजार वर्षोंसे इधरका नहीं है। हिन्दुओंके विषयमें अनेक वर्षोंसे हम लोगोंको घृणा है तथा समय समयपर उनको गालियाँ सुनानेकी भी हमें आदत पड़ गई है। अन्ततः इसी दृष्टिसे मैं उस पुस्तकके पृष्ठ उलटते उलटते हिन्दुओंकी धार्मिकताका विस्मयके साथ अवलोकन करने लगा। अन्तमें मेरा विश्वास हो गया कि, मैंने जो वेदोंके कालका संशोधन

किया था और उससे जो मेरे मत बने थे, वे इस ग्रंथके सिद्धान्तोंके सामने भ्रमात्मक हैं। पुस्तकको पढ़कर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। यह ग्रंथ अद्भुत है। संसारके संशोधनका इतिहास लिखते समय श्रीमान् तिलक महोदयका नाम बड़े गौरवके साथ उसमें लिखा जायगा।"

बोस्टन युनिवर्सिटीके अध्यक्ष और 'पेरेडाइज फाउण्ड' नामक ग्रंथके रचयिता डा० एफ. डब्ल्यू. वारन "आर्टिक होम इन् दि वेदाज" नामक तिलकप्रणीत ग्रंथके विषयमें अपनी मेगजीन (Open Cover Magazine) में लिखते हैं।

"एक छोटेसे लेखमें ग्रन्थकारके सब सिद्धान्तोंका सारांश नहीं दिया जा सकता। इतना कह देना पर्याप्त होगा कि, ग्रन्थकारने जैसे निर्णयात्मक प्रमाण दिये हैं, अभी तक किसी विद्वान्ने नहीं एकत्रित किये थे। ग्रन्थ ऐतिहासिक संशोधनों तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तोंसे भरा है। मेरा विश्वास है कि, जो इस ग्रन्थको पढ़ेंगे, उनको यह शंका नहीं रहेगी कि, आर्योंका निवास-स्थान कहां था"।

कुछ लोग पूछते हैं कि, उन्होंने अपने पहले दोनों ग्रन्थ अंग्रेजीमें क्यों लिखे ? क्या इससे उनके स्वदेशाभिमानमें कलंक नहीं लगा ? प्रश्नकर्ताओंको समझ लेना चाहिये कि, हमपर जिस भाषामें आक्षेप किये गये हों, उसी भाषामें उनका निवारण होना उचित है। वेद किसानोंके गीत हैं, भारतवासी अनार्य हैं, ऐसे आक्षेप किसी भारत-वासीने नहीं किये। जिन विदेशियोंने ऐसे आक्षेप किये, उन्हें उन्हींकी भाषामें मुंहतोड़ उत्तर मिल गया। यही नहीं, किन्तु उन्हें लोक-मान्यके ग्रन्थ देख, अपने मत बदल देने पड़े और संसारमें भारती-योंका पूर्ण महत्त्व स्थापित हुआ। यह देशाभिमानको कलंकित करनेवाला काम है, या उज्वल करनेवाला इसका निर्णय समझदार

स्वयं कर सकते हैं। देशसेवाके लिये दो गुणोंकी अपेक्षा रहती है। (१) प्रबोधशक्ति और (२) लोगोंके हृद्गत भावोंकोअपने अधीन कर लेनेकी शक्ति। दोनों शक्तियां निष्कलंक चरित्र और विशुद्ध अन्तःकरण बनानेसे प्राप्त हो सकती हैं। लोकमान्यमें दोनों शक्तियां थीं। इस कारण उनके देशाभिमानको मूर्त स्वरूप प्राप्त हुआ और समस्त भारतके अन्तःकरणके तारसे उनके अन्तःकरणका तार एक स्वरमें मिल गया। वर्ष भर कार्य्य कर लोकमान्य वसन्त-ऋतुमें तानाजीके सिंहगढ़पर बनवाये हुए अपने बंगलेमें कृतकार्योंकी अखण्ड पर्यालोचना करते और अग्रिम वर्षके कार्योंकी रूपरेखा बांधते थे। इस प्रकारका संशोधन ५० वर्षोंतक कर उन्होंने सिद्धान्त बांधा कि, जिसे प्राणोंकी पर्वाह हो, उसे राजनैतिक कार्यक्षेत्रमें नहीं उतरना चाहिये। प्रयत्नवादमें मृत्युका भय नहीं रहता। जिस देशमें मैंने जन्म ग्रहण किया है, उस देशकी कीर्ति मैं अपने यत्नसे इसी जन्ममें दिगन्तमें व्याप्त कर देशका खाया हुआ नमक अदा करूँगा। यह भावना जिसकी दृढ़ हो गई हो, वही देशका कार्य कर सकता है। व्यर्थ किसीके काममें दोष देखना मूर्खता-मात्र है। देशभक्तोंकी कष्ट सहते हुए जैसी शोभा बढ़ जाती है, उसका वर्णन एक कविने इस प्रकार किया है:—

"मादरे हिन्दकी तस्वीर हो सीने पै बनी
बेड़ियां पैरमें हों और गलेमें कफनी॥
आजसे शौक वफाका यही जौहर होगा।
फर्श कांटोंका हमें फूलोंका बिस्तर होगा॥
फूल हो जायगा छाती पै जो पत्थर होगा॥
कैदखाना जिसे कहते हैं वही घर होगा॥
सन्तरी देखकर इस जोशको शरमायेंगे।
गीत जञ्जीरकी झनकार पर हम गायेंगे।

जिनका दामाने वफा कौमका गहवारा है।
उनको असमतकी तरह पास वतन प्यारा है।"

लोकमान्यको इस योग्यतातक पहुंचानेवाले उनके अनेक सद्गुणोंमेंसे दो तीन गुण प्रधान हैं। (१) विवेक-वैराग्य। (२) निर्लोभाचरण अर्थात् निःस्वार्थभाव। (३) उत्कटता। लोकमान्य कुटुम्बी थे सही, पर उनके कुटुम्बियोंकी गणना सैकड़ोंसे नहीं, करोड़ोंसे हो सकती है। मृत-पुत्रके दाहके पहिले केसरीका अग्रलेख उन्होंने लिखा था। 'काल' के सम्पादक पकड़े गये, सुनते ही अपने नातीके उपनयनके मङ्गल उत्सवको छोड़, भक्तवत्सल भगवान्‌की तरह आप नासिकसे गजेन्द्रोद्धार करनेके लिये बम्बई चले आये। उनके सदाचारके ऐसे अनेक उदाहरण हैं। अनेक स्थानोंमें उनका अद्भुत गौरव हुआ, परन्तु उसकी उन्हें परवाह नहीं। वे प्रशंसाके शत्रु और गरीब अमीर सब देशवासियोंके सच्चे सेवक थे। कल कारावासका दण्ड सुनाया जायगा, घरकी मण्डली शोकाकुल हो रही है और लोकमान्य रात्रिके दो बजेतक अपने निर्धन किसान भाइयोंकी सेवा कर रहे हैं! प्रायः बिना फीस लिये वे वकालत करते थे। विवेक-वैराग्यका इससे अच्छा दृष्टान्त क्या हो सकता है? वे अपनी समग्र आमदनी सर्वसाधारणकी सम्पत्ति समझते थे। उनका मासिक खर्च इतना ही था, जितना किसी सच्चरित्र मध्यम श्रेणीके गृहस्थका होता है। ६० वें वर्षकी जन्मगांठके समय उन्हें लोगोंने १ लाख रुपया दिया, उन्होंने तुरन्त वह देशकार्यार्थ दे डाला। यही नहीं, किन्तु उसपर अपने पसीनेसे कमाये हुए पत्र-पुष्पकी-दक्षिणा भी दी। ऐसा उज्ज्वल स्वार्थत्याग दुर्लभ है। कितने ही लोगोंने स्वदेशसेवा, स्वधर्मसेवा, समाजसेवा आदिके बहानेसे अपना घर भर लिया। ऐसे अगुआओंको दूरसे ही प्रणाम है। अगुआमें

सबसे पहिले स्वार्थत्यागका गुण होना चाहिये। लोकमान्य स्वार्थी थे, पर वह स्वार्थ व्यक्तिगत नहीं, समष्टिगत था। वे यों अत्यन्त मृदु, परन्तु सत्यके लिये अत्यन्त कठोर थे। सत्यके लिये उन्होंने सुख सर्वस्व पैरों तले दबाकर हथेलीपर सिर धर लिया था। उनकी इस उत्कटतासे उनके हाथों यथार्थ परोपकार बन आया। उनका हर एक कार्य उत्कट होता था। बड़े बड़े देशाभिमानी जोशमें आकर मनमाने लेख लिख गये और बक गये। अन्तमें फंसनेपर कान पकड़ कर, नाक रगड़ कर उन्होंने अपना छुटकारा कर लिया। परन्तु लोकमान्यने आजीवन 'क्षमस्व' नहीं कहा। विवेक-वैराग्ययुक्त निःस्वार्थ देशसेवा करते हुए क्षमा माँगनेकी क्या आवश्यकता है? जिसका देशाभिमान उत्कट नहीं, जिसका स्वार्थत्याग उत्कट नहीं, जिसका विशुद्ध चरित्र उत्कट नहीं, जिसका अन्तःकरण उत्कट नहीं, जिसकी वाणी उत्कट नहीं, वह समाजका अगुआ हो नहीं सकता। उत्कटताके साथ मनोनिग्रह होना चाहिये। सूरतके बखेड़ेके समय, मुकद्दमोंके समय और अनेक प्रकारके कष्ट सहते समय लोकमान्यके मनोजयकी परीक्षा हो चुकी है। क्षमा, दया, शान्ति आदि सर्व-धर्मसम्मत सद्गुणोंकी उनमें मनः संयमके साथ उत्कटता थी। इसी उत्कटताके कारण वे समाजाग्रणी हुए।

माननीय पण्डित मदनमोहन मालवीयजी जैसे कुछ देशभक्तोंको छोड, भारतके प्रायः सभी अगुआ धर्मान्तर कर चुके हैं। पर तिलक कट्टर स्वधर्माभिमानी थे। पाश्चात्य विद्याओंको पढ़कर लोग अपनी विद्याओंको भूल जाते हैं। लोकमान्यने वेद-शास्त्रोंकी छानबीन कर हिन्दुधर्मकी सार्वभौमता सिद्ध की है। निष्काम कर्मयोगका स्वानुभवपूर्ण गीतारहस्य उनकी उत्कट स्वधर्मनिष्ठाका परिचायक है। जिसे स्वधर्माभिमान नहीं वह स्वदेशाभिमानी

नहीं हो सकता। वे ईसाइयोंकी तरह धर्म और नीतिको पृथक नहीं समझते थे।

हिन्दुस्थानके बाहर तिलकका नाम उक्त दो अंग्रेजी ग्रन्थोंसे और नवीन प्रकाशित 'गीतारहस्य' से ही प्रसिद्ध है। 'गीतारहस्य' मराठी भाषामें लिखा गया, उसका भाषान्तर हिन्दी और गुजराती-में हो गया है और भारतकी अन्यान्य प्रमुख भाषाओंमें हो रहा है। काशीके बालबोध कार्यालय द्वारा 'गीतारहस्यसार' नामक एक अंग्रेजीमें पुस्तक प्रकाशित हुई थी, जिसमें गीतारहस्यके सिद्धान्तोंका सार संग्रह किया गया था। 'गीतारहस्य' अत्यन्त लोकप्रिय और कर्तव्याकर्तव्यका मार्गदर्शक हुआ है। यहां तक कि, उसके प्रथम संस्करणकी छः हजार प्रतियां एक सप्ताहमें बिक गयीं। धर्म और नीति एक ही वस्तु कैसी है और इहलोकमें अभ्युदय प्राप्तकर परलोकमें मुक्ति कैसी हो सकती है, इसका विवेचन 'गीतारहस्य' में भली भांति हो गया है।

सन् १६१४ में तिलककी मुक्तता होनेपर लोगोंने ऐसा अनुमान किया कि, अब वे चुप हो जायँगे। परन्तु लोगोंका अनुमान मिथ्या सिद्ध हुआ। घर आते ही उन्होंने अपने देशबान्धवोंके हितके कार्य्य करनेके लिये पुनः कमर कसी। स्वदेशी, पैसाफण्ड और सार्व-जनिक सभाके कार्य्य फिरसे जोर शोरसे चलने लगे और भारतमें पुनः कर्तव्य-रविका उदय हो गया। राष्ट्रीय सभा (कांग्रेस) पहिले एक जलसेके ढंगपर चलती थी। प्रतिवर्ष कुछ प्रतिष्ठालोलुप सज्जन छुट्टियोंमें एकत्र हो, तीन दिन व्याख्यान देते और फिर घर आकर 'हम क्या कह आये हैं और हमें क्या करना चाहिये ?' इस बातको भूल जाते थे। अधिकसे अधिक प्रतिवर्षकी रिपोर्ट विला-यत भेज देना ही उस समय शतक्रतुका कार्य समझा जाता था। कांग्रेसमें जीवात्मा नहीं था। लोकमान्यका कांग्रेससे सम्बन्ध

होनेपर कांग्रेस लोकजागृतिका साधन बन गई। पहिले पहिल उनके विचार नरम लोगोंको पसन्द नहीं हुए, इस कारण कांग्रेस-वालोंने उनका अनेक रीतिसे अपमान कर उनके मतोंको लथेड़ा। पर उनको अपने मत सत्य हैं इस बातका पूर्ण विश्वास था, इसीसे उनके हाथ कांग्रेसकी बागडोर आ गई। कांग्रेसके सूत्र उनके हाथमें रहनेसे ही देशका कल्याण है, यह धारणा लोगोंके मनमें बैठ गई। लोकमान्य बकवाद नहीं, प्रत्यक्ष कार्य चाहते थे। उनके विचारोंमें सजीवता थी। विचारोंके साथ आचारोंकी अभिन्नता होनी चाहिये। इस सजीवताके ही बलपर राष्ट्रीय सभामें जो फूट हुई थी, वह उन्होंने मिनटोंमें मिटा दी और नरम गरमोंको एक कर दिया था। भारतका दास्यविमोचन करनेके लिये "स्वराज्य" के बिना गति नहीं, यह सोचकर उन्होंने 'होमरूल लीग' पूनामें स्थापन की और स्वराज्यका प्रस्ताव ३१ वीं कांग्रेसमें पास करा लिया।

अब भी नौकरशाहीने * तिलकका पीछा नहीं छोड़ा। ता० २३ जुलाई १९१६ को तिलकके अनेक भक्तोंने उनकी साठवीं वर्ष-गाँठ बड़े उत्साहसे मनाई। उसी दिन प्रातःकाल दस बजे एक वर्षतक अच्छी चालचलन रखनेके लिये ४० हजार रुपये जमानत भरनेकी सरकारने नोटिस दी। मजिष्ट्रेटके इजलासमें मुकदमा चला और तिलकको जमानत भरनी पड़ी। परन्तु हाईकोर्टमें अपील करनेपर मजिष्ट्रेटकी ली हुई जमानत लौटा दी गई और तिलक विजयी हुए।

अनन्तर लोकमान्यने कर्नाटक प्रान्तमें दौरा किया। स्थान स्थानपर अपूर्व स्वागत और सम्मान हुआ। पुनः वापिस लौटने-

* 'नौकरशाही' Bureaucracy का अनुवाद है। यह शब्द लोकमान्यने ही गढ़ा और इसका ठीक यही अर्थ होता है।

पर वे कांग्रेसमें गये । वहां पर हिन्दु-मुसलमानोंको बड़ी कुशलतासे एक किया और स्वराज्यका झंडा लखनऊमें गाड़ दिया । कांग्रेससे लौटती समय उनका हरएक स्टेशनपर अभूतपूर्व सत्कार हुआ। तिलकके अवतारकार्यकी यह एक रूपरेखामात्र है। संक्षेपमें यह कह देना हम उचित समझते हैं कि, लोकमान्यको हम एक व्यक्ति नहीं समझते, वह प्रचण्ड देशकार्यकी प्रतिनिधिस्वरूप शक्तिकी दिव्य-मूर्ति थी । उनकी बुद्धि, शक्ति, वैभव, कीर्ति और जीवनका सारसर्वस्व—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदा च न ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥"

(१) कर्म करनेका तुम्हें अधिकार है । (२) फल प्राप्ति होना अथवा न होना तुम्हारे हाथ नहीं है । (३) किसी फलकी इच्छा कर काम न करो, और (४) कर्म न करनेका भी हठ न करो, इस भगवदुक्त चतुःसूत्रीके अनुसार था। सनातनधर्मकी महिमा ही ऐसी है कि, उसमें रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, नल, हरिश्चन्द्र, प्रतापसिंह, शिवाजी, रामदास, शङ्कराचार्य, तिलक जैसे आदर्श पुरुष उत्पन्न हुए और होंगे । जिस जातिका भूतकालीन आदर्श नहीं, उसका भविष्यत् भी आदर्शस्वरूप नहीं हो सकता । सनातनधर्म उच्च आदर्शपूर्ण होनेसे उस धर्ममें आदर्श पुरुष निर्माण करनेकी शक्ति आगई है ।

स्वदेशहितके सम्बन्धमें परिस्थितिके अनुसार आज जिन अत्युच्च कल्पनाओंका अस्तित्व देख पड़ता है, उन सबके आद्य प्रवर्तक तिलक हैं । उनके नामका उच्चार होते ही स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्यका स्मरण हो आता है। ऐसी कोई ऐहिक विद्या, कला अथवा पारलौकिक भावना नहीं, जो उनके मस्तिष्कसे अछूत रही हो । उनके स्मरणसे ही उनके स्वार्थत्याग, धैर्य, करा-

रापन, आत्मविश्वास, देशाभिमान आदि गुण मूर्तिमान होकर आंखोंके सामने खड़े हो जाते हैं। उनकी ग्रन्थरचना देख, किसके अन्तःकरणमें कर्तव्यस्फूर्तिकी जागृति नहीं होती? उनके केसरीकी गर्जना और उनकी अमृतवाणी सुननेका जिसे एक बार भी सौभाग्य प्राप्त हुआ हो, क्या वह कभी देशद्रोही बन सकता है? उनकी व्यावहारिक राजनीतियुक्त कार्यकुशलताकी मनोहारिणी शैली प्रत्येक कृतज्ञ भारतवासीके हृदयपटलपर अङ्कित रहेगी। कनक-कान्ता, मद्य-मांसादि आसुरी भोगविलासकी कल्पना लोकमान्यके चित्तको स्पर्श भी नहीं कर सकी थी। उनके पवित्र आचरण, साफ सुथरा पहरावा, मिलनसारी, निरलस परिश्रमशीलता, शीतोष्ण-सुख-दुःख-मानापमानमें समबुद्धि आदि दैवी गुण देख कर, यही कहना पड़ता है कि, केवल महाराष्ट्रके ही नहीं, किन्तु समस्त भारतवर्षके प्रबल पुण्यका उदय होनेसे ही ऐसी विभूतिका हमें लाभ हुआ। महात्मा गान्धी जैसे एकनिष्ठ देशसेवीको राष्ट्रीय भगिनी एनी बेसेण्ट जैसी विदुषी 'राजनैतिक बालक' कहती है और वही बेसेण्ट लोकमान्यके आगे बम्बईकी सभामें हाथ बांधकर खड़ी हो,—'गुरो!' इस सम्बोधनसे अपनी श्रद्धा प्रकट करती है, इस दृश्यको देख किसका हृदय गद्गद नहीं होगा? लोकमान्यकी प्रातःस्मरणीया जननीने सूर्योपासना की थी। उसी उपासनाका प्रत्यक्ष फल तिलकके रूपमें आविर्भूत हुआ। वे माता-पिता धन्य हैं, जिनसे जगत्कल्याणकारी ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ। उनकी पवित्र आत्माएं अपने पुत्रका पृथ्वीपर जयजयकार होता हुआ देखकर, स्वर्गमें कैसे आनन्दका अनुभव करती होंगी?

लोकमान्यका सिद्धान्त था कि, कर्मयोगसे मनुष्य जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त हो सकता है। इसके दृष्टान्त भी स्वयं वे ही थे। जब साधक अपनी आत्माको विश्वात्मामें मिला दे, तब जीवन्मुक्ति कैसे दूर रहेगी? देशकी इच्छा तिलककी इच्छा थी, देशके सुख दुःख

तिलकके सुख दुःख थे, देशके पापपुण्य तिलकके पापपुण्य थे, अन्ततः देश और वे अभिन्न हो रहे थे । तिलकका शरीर देशका शरीर और तिलककी वाणी देशकी वाणी थी । 'देशसेवा' और 'देवसेवा' भिन्न नहीं है, देवसेवासे जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह देशसेवासे भी कैसे प्राप्त होती है, इसका उदाहरण किसीको देखना हो तो, वह तिलकके जीवनका सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करे। तिलकका जयजयकार होता था, सो व्यक्तिका नहीं, किन्तु तिलकस्वरूप हमारे सम्पूर्ण राष्ट्रका होता था। उनका जयजयकार हमारे धर्मका जयजयकार था, हमारी संस्कृतिका जयजयकार था, हमारे स्वार्थत्यागका जयजयकार था, हमारे राष्ट्रके जो श्रेष्ठ और उदात्त मनोविकार हों, उनका जयजयकार एवम् हमारे वेद, उपनिषद्, पुराण, गीता, दर्शन, इतिहास आदिसे बनी हुई हमारी सनातन कालसे प्रचलित श्रेष्ठतम परम्पराका जयजयकार था !

लोकमान्य आर्योंके उच्चतम आदर्श थे। उनके आचार विचार अनुकरणीय थे। वे जिन बातोंको सोचते थे, उनको हमें भी सोचना चाहिये। भे जो कुछ कहते थे, उसका हमें प्रचार करना चाहिये और वे जो कुछ करते थे, उसीका अनुकरण हमें भी करना चाहिये।

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥"

'श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं; उनकी देखादेखी लोग भी करने लगते हैं। उन्हें जो बातें प्रमाण होती हैं, उन्हींके अनुसार लोग भी चलते हैं।' इस उक्तिको हमें सक्रिय चरितार्थ करना चाहिये। लोकमान्यका अन्तिम लक्ष्य स्वराज्यप्राप्ति था। इस लोकमें स्थूल स्वराज्य और परलोकमें सूक्ष्म स्वराज्य (आत्मस्वातन्त्र्य) प्राप्त करना उनका एकमात्र पवित्र साध्य था।

वही लक्ष्य—वही साध्य—जब हम भी अपना बना लेंगे, तभी इस पुण्यमयी भारत-भूमिमें हमारा जन्मग्रहण करना सफल होगा।

तिलक भारतमाताके सच्चे, एकनिष्ठ और एकमात्र निस्सीम भक्त थे। उनका सम्पूर्ण जीवन मातृभूमिकी निःस्वार्थ सेवामें व्यतीत हुआ, उनका समस्त लक्ष्य भारतभूमिके और समस्त मानवजातिके हितकी ओर लगा रहता था। इस बातका यह एकमात्र प्रमाण पर्य्याप्त होगा कि, बहुमूत्रके भयानक रोगसे पीड़ित होनेपर भी ६१ वर्षों की वृद्धावस्थामें होमरूल लीगका डेपुटेशन लेकर वे बिलायत पधारे थे। घनघोर संग्रामके समयमें समुद्र-यात्रा कितनी कष्टकर और धोखेकी थी; परन्तु लोकसेवाके आगे उन्होंने अपने प्राणोंकी कुछ भी परवाह नहीं की। उन्होंने अन्तिम श्वासतक देशसेवा करनेका प्रण निबाहा। इस प्रणका बदला भारतको स्वतन्त्र बनाकर ईश्वरको चुकाना ही होगा।

बिलायतमें वहांकी विद्वानों और मजूरदलके नेताओंपर लोकमान्यका अच्छा प्रभाव पड़ा। लोकमान्यके उद्योगसे अधिकांश बिलायती प्रजा हिन्दुस्थानको स्वराज्य देनेके अनुकूल हुई। माण्ट-फोर्ड सुधार उसका प्रत्यक्ष फल है। बिलायतमें लोकमान्यके जो व्याख्यान हुए, उनको सुननेके लिये ४०।४० हजार लोग एकत्र होते थे। एक सभामें तो ६ व्यासपीठ बनाये गये थे और थोड़े थोड़े समयतक प्रत्येक व्यासपीठपर खड़े हो, लोकमान्य घूम घूमकर व्याख्यान देते थे। सर वेलण्टाइन चिरोलने 'भारतमें अशान्ति' नामक अपने लिखे ग्रन्थमें अशान्तिका कारण तिलकको बताया था और उन्हें अराजक कहा था। इस कारण लोकमान्यने चिरोलपर मानहानिका दावा किया। सब तरहसे तिलकके अनुकूल मुकद्दमेका रूप देख कर सरकारी वकीलको कहना पड़ा कि, यदि जज साहब तिलकके अनुकूल फैसला सुनावेंगे, तो भारतसे ब्रिटिश सत्ता उठ जायगी।

लोकमान्य हार गये, पर ब्रिटिश न्यायदेवताकी सचाईकी पोल खुल गयी।

विलायतसे लौट कर लोकमान्यने पुनः देशभर भ्रमण कर लोक-जागृतिका कार्य किया। विलायतयात्रा करनेके कारण सनातन-धर्मकी मर्यादा-रक्षाके लिये लोकमान्यने प्रायश्चित्त किया था। देशके सभी नेता और उनके परिवारके लोग इसके विरुद्ध थे, पर उन्होंने किसीके कहनेपर ध्यान न देकर, सशास्त्र आचरण किया। उसी वर्ष काशीमें आल इण्डिया कांग्रेस कमेटीकी बैठक थी, उसमें लोकमान्य सम्मिलित हुए थे। अनेक कष्टोंके सहने तथा रोगोंके कारण उनका शरीर जीर्णशीर्ण हो गया था, किन्तु वे प्रतिदिन १८-२० घण्टे काम करते रहते थे। श्रीभारतधर्ममहामण्डलके प्रतिष्ठाता श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजसे उनकी बहुत घनिष्ठता थी। श्री० खापर्डे, केलकर, देशपाण्डे, वैद्य आदिके साथ वे महा-मण्डलमें श्रीस्वामीजीसे मिलने आये थे। महामण्डल स्थापन हुआ, तब उसके साथ लोकमान्यकी बराबर सहानुभूति रही और समय-समयपर वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे महामण्डलको सहा-यता पहुंचाते थे। बम्बई और प्रयागके महाधिवेशनोंमें तो उन्होंने महामण्डलकी प्रतिष्ठावृद्धिके लिये अविश्रान्त परिश्रम किये थे। जब स्वामीजीने उनसे कहा कि, आप राजनीतिक कार्य तो करते ही हैं, किन्तु धर्मकार्यमें भी सहायता देते रहें। इसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि, धर्मको छोड़ मैं एक पैर भी नहीं रखता। वास्तवमें तिलक जैसा धर्मात्मा राजनीतिज्ञ अपने देशमें अबतक कोई उत्पन्न नहीं हुआ। पञ्चगङ्गा-घाटपर अपने व्याख्यानमें उन्होंने कहा था,—"आप गङ्गाजीके पण्डे हैं, और मैं स्वराज्य-गङ्गाका पण्डा हूं। कहना यही है कि, भागीरथीको भूलोकमें लानेके लिये भगीरथको जैसे परिश्रम करने पड़े, वैसे ही स्वराज्य-गङ्गाको लानेमें हमें करने होंगे।"

काशीसे लौट जानेपर लोकमान्यकी प्रकृति अधिकतर क्षीण होती गयी। महात्मा गान्धीको लेकर कुछ दिनोंतक सिंहगढ़पर उन्होंने विश्राम किया, परन्तु प्रकृति सुधरी नहीं। अपनी राजनीतिकी रूपरेखा गान्धीजीको उन्होंने समझायी, किन्तु महात्माजी समझे कुछ नहीं। सिंहगढ़से लौटकर गान्धीजीने कहा,—"तिलक विद्वान् हैं इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उन्होंने शास्त्रोंके जो सैकड़ों श्लोक सुनाये, उससे मैं कोई सार नहीं निकाल सका।" अस्तु, लोकमान्य सिंहगढ़से बम्बईमें आकर 'सरदारगृह' में ठहरे थे। वहीं ता० १ अगस्त १६२० को रात्रिके ११॥ बजे उनका अकस्मात् देहावसान हो गया! यह समाचार १—२ घण्टोंमें ही बिजलीकी तरह देशभरमें फैल गया और घर घर अपने गृहपतिके निधनके समान मातम छा गया। बम्बईमें तो 'सरदारगृह' के आगे ४—५ लाख लोगोंकी भीड़ हो गयी। नाटक-गृह बन्द हो गये। जहां तहांसे लोगोंकी झुण्डें आने लगीं। सरदारगृहके दरवाजे तोड़ दिये गये। लोगोंके रोनेके स्वर मेघगर्जनाको भी लजाने लगे। महात्मा गांधी, मौलाना महम्मदअली, लाला लाजपतराय आदि देशभक्त उनके निकट थे। भारतका तिलक अस्तंगत हुआ देख, उनके हृदयोंकी क्या दशा हुई होगी, उसका अनुभव वही कर्मवीर सैनिक कर सकते हैं, जिनका सेनापति विजयके द्वारपर पहुंच कर रणमें काम आ गया हो। महात्माजीने साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर लोगोंको हटाया, पर बिना तिलकका शव देखे, कोई जानेको प्रस्तुत नहीं हुआ। तब सवेरे बरामदेमें कुर्सीपर लोकमान्यका देह लाकर रक्खा गया। लोगोंने दर्शन किये और हिन्दु, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, अंगरेज आदि सभी जातिके लोगोंने दो आँसू बहा दिये। १० बजे जलूस निकला। सब जातिके लोगोंने रत्थीको कन्धा दिया। सन्ध्याके ५ बजे प्रायश्चित्त (स्पर्शास्पर्शके लिये) आदि कर लोकमान्यका दाह संस्कार चौपाटीपर किया गया। ७-८ लाख लोग दुःखित अवस्थामें खड़े खड़े देख रहे थे। एक मुसलमान बालक दुःखके आवेशमें आकर चितामें कूद पड़ा, पर लोगोंने शीघ्र ही उठा लिया। लोकमान्यका शरीर भस्म हो गया। अस्थियां उनके पुत्रोंने प्रयागमें श्रीगङ्गाजीमें बहा दीं। उस दिन प्रयागके जन-समाजका दृश्य देखने योग्य था। 'हा तिलक!' के सिवा कोई शब्द सुनायी नहीं देता था।

लोकमान्यका स्थूल शरीर अब नहीं है, किन्तु उनके यशः शरीरका नाश जबतक भारत-भूमिका अस्तित्व है, तबतक नहीं हो सकता। जब तिलक बी० ए० हुए, तब थोड़ीसी अंग्रेजी जानने वालेको बड़ी नौकरी मिल जाती थी। यदि वे चाहते, तो सर टी० माधव राव, रमेशचन्द्र दत्त, न्यायमूर्ति रानडे आदिको जैसी नौकरियां मिलीं, वैसी नौकरी पाजाते, किन्तु गुलामीके बन्धनमें फँसना उन्होंने उचित नहीं समझा, उस समयके लोगोंने इस कारण उन्हें दोष भी दिया, परन्तु उसकी उन्होंने परवाह नहीं की। स्वार्थ-त्यागपूर्ण देशसेवा करने वालोंमें लोकमान्य अग्रगण्य थे। उन्होंने अपने उदाहरणसे सिद्ध कर दिया कि, एक ही स्वार्थत्यागी पुरुष देशको जागृत कर सकता है। देहान्तके पहिले लोकमान्यने अपना मृत्युपत्र बनाया था। उसके अनुसार थोड़ीसी सम्पत्ति पुत्र कन्याओंको मिली और लाखोंकी शेष सम्पत्ति उनके बनाये ट्रस्टके अधीन हो गयी। यह ट्रस्ट उनके सिद्धान्तानुसार देशसेवाका कार्य करता रहेगा। भारत भूमि रत्नप्रसवा है। इसने कितने ही रत्न उत्पन्न किये, करती है और करती रहेगी; किन्तु लोकमान्य जैसा उज्वल रत्न इधर कई शताब्दियोंमें उत्पन्न नहीं हुआ। यों तिलकमें अनेक गुण थे, किन्तु सबसे बढ़कर गुण यह था कि. बहुत सोच बिचार कर वे अपना कार्यक्रम निश्चित करते और एकबार पैर आगे रख देनेपर उसे पीछे नहीं लेतेथे, सिद्धान्तके वे बड़े पक्के थे। इसीसे १६ वें वर्षमें देशसेवा करनेकी जो प्रणाली उन्होंने निश्चित की थी, उसको ६४ वर्षों तक निबाहा। उनका शरीर और कुछ दिन रहता. तो स्वराज्य बहुत पास आ जाता; किन्तु ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि इस देशका दुर्दैव अभी समाप्त नहीं हुआ है। महात्माजी एक प्रचण्ड शक्ति हैं। उन्हें काबूमें रखना तिलकका ही काम था। महात्माजी रङ्गरूट भरती करने लग गये थे, उस समय उनके पास ५० हजार रुपयोंके नोट भेज कर तिलकने उन्हें किस चातुरीसे रोका था, इसका स्मरण प्रायः सबको होगा। वे होते, तो अहमदाबादमें महात्माजीको अश्रुपात न करना पड़ता। हरि-माया बलवती होती है, अब यदि हमें संसारमें जीवत रहना है, तो लोकमान्य तिलकके बताये हुए 'कर्मयोग' के सरल मार्गका अनुसरण करना चाहिये।

सनातन धर्मकी पुस्तकें ।

धर्मकल्पद्रुम ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

यह हिन्दूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रंथ है। हिन्दू जातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्मग्रंथकी थी कि जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अंग उपांगोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेदों और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भलीभांति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्री भारतधर्म महामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थका प्रणयन करना प्रारम्भ किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये जायंगे। अबतक इसके छः खण्डोंमें जो अध्याय प्रकाशित हुए हैं, वे ये हैं:—धर्म्म, दानधर्म्म, तपोधर्म, कर्म्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ, महायज्ञ, वेद, वेदांग, दर्शनशास्त्र (वेदोपांग), स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, तंत्रशास्त्र, उपवेद, ऋषि और पुस्तक, साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म, वर्णधर्म्म, आश्रमधर्म्म, नारीधर्म्म (पुरुषधर्म्मसे नारीधर्म्मकी विशेषता) आर्य्यजाति, समाज और नेता, राजा और प्रजाधर्म्म, प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म, आपद्धर्म्म, भक्ति और योग, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, गुरु और दीक्षा वैराग्य और साधन, आत्मतत्त्व, जीवतत्त्व, प्राण और पीठतत्त्व, सृष्टिस्थितिप्रलयतत्त्व, ऋषि, देवता और पितृतत्त्व,

अवतारतत्त्व, मायातत्त्व, त्रिगुणतत्त्व, त्रिभावतत्त्व, कर्मतत्त्व मुक्तितत्त्व, पुरुषार्थ और वर्णाश्रमसमीक्षा, दर्शनसमीक्षा, धर्मसम्प्रदायसमीक्षा, धर्मपन्थसमीक्षा और धर्ममतसमीक्षा। इस ग्रन्थसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रन्थों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर यथार्थरूपसे सनातन वैदिक धर्मका प्रचार होगा। इस ग्रंथमालमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेशमात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि, हिन्दूशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आजकलकी पदार्थविद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। इसकी भाषा सरल, मधुर और गम्भीर है। इसके छः खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीयका १॥), तृतीयका २), चतुर्थका २), पञ्चमका २) और षष्ठका १॥) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागजपर भी छापे गये हैं, और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बांधे गये हैं, मूल्य ५) है। सातवां खंड यन्त्रस्थ है।

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित।

इस ग्रंथमें आर्यजातिका आदिका वास स्थान, उन्नतिका आदर्श-निरूपण, शिक्षादर्श, आर्यजीवन, वर्णधर्म आश्रमधर्म आदि विषय वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ वर्णित किये गये हैं। यह ग्रंथ धर्मशिक्षाके अर्थ बी. ए. क्लासका पाठ्य है। मूल्य २)।

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित।

भारतका प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। इसका द्वितीय संस्करण परिवर्द्धित और

सुन्दर होकर छप चुका है। यह ग्रंथ भी बी. ए. क्लासका पाठ्य है। मूल्य १)

साधनचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

इसमें मंत्रयोग, हठयोग, लययोग, और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षिप्तमें अति सुन्दर वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ प्रथम वार्षिक एफ. ए. क्लासका पाठ्य है। मूल्य १॥)

शास्त्रचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

यहग्रन्थ हिन्दुशास्त्रोंकी बातें दर्पणवत् प्रकाशित करनेवाला है। यह ग्रन्थ द्वितीय वार्षिक एफ. ए. क्लासका पाठ्य है। [यंत्रस्थ]

धर्मचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

एन्ट्रेंस क्लासके बालकोंके पाठनोपयोगी यह एक उत्तम धर्म-पुस्तक है। इसमें सनातन धर्मका उदार सार्वभौम स्वरूपवर्णन, यज्ञ, दान, तप आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारी-धर्म, आर्यधर्म, राजधर्म तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है। कर्मविज्ञान, सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि नित्यकर्मोंका वर्णन, षोड़श संस्कारोंके पृथक् पृथक् वर्णन और संस्कारशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि द्वारा मोक्षका यथार्थ मार्ग निर्देश किया गया है। इस ग्रंथके पाठसे छात्रगण धर्मतत्त्व अवश्य ही अच्छी तरहसे जान सकेंगे। मूल्य १)

आर्य गौरव।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। यह ग्रंथ स्कूलकी ९ वीं तथा १० वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥) है।

आचारचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

यह भी स्कूलपाठ्य सदाचारसम्बन्धीय धर्मपुस्तक है। इसमें प्रातः कालसे लेकर रात्रिमें निद्राके पहले तक क्या क्या सदाचार किस लिये प्रत्येक हिंदुसंतानको अवश्य ही पालने चाहिये, इसका रहस्य उत्तम रीतिसे बताया गया है, और आधुनिक समयके विचारसे प्रत्येक आचारपालनका वैज्ञानिक कारण भी दिखाया गया है। यह ग्रन्थ बालकोंके लिये अवश्य ही पाठ करने योग्य है। यह स्कूलकी ८ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

नीतिचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

मानवीय जीवनका उन्नत होना नीतिशिक्षापर ही अवलम्बित होता है। कोमलमति बालकोंके हृदयोंपर नीतितत्वसञ्चित करनेके उद्देश्यसे यह पुस्तिका लिखी गयी है। इसमें नीतिकी सब बातें ऐसी सरलतासे समझाई गयी हैं कि, इस एकके ही पाठसे नीतिशास्त्रका ज्ञान हो सकता है। यह स्कूलकी ७ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

चरित्रचन्द्रिका ।

सम्पादक पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर ।

इस ग्रन्थमें पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक महापुरुषोंके सुन्दर मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। यह ग्रन्थ स्कूलकी ६ ठीं कक्षाका पाठ्य है। प्रथम भागका मूल्य १)

धर्मप्रश्नोत्तरी ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अति संक्षिप्तरूपसे इसी पुस्तिकामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरीकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रक्खी गयी है कि, छोटे बच्चे भी धर्मतत्वोंको भलीभांति हृदयंगम कर सकेंगे। भाषा भी अति सरल है। यह ग्रंथ स्कूलकी ४ थी

कक्षाका पाठ्य है। कागज और छपाई बढ़िया होनेपर भी मूल्य केवल ।) मात्र है।

परलोक रहस्य।

श्रीमान्स्वामी दयानन्द विरचित।

मनुष्य मर कर कहाँ जाता है, उसकी क्या गति होती है, इस विषयपर वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ विस्तृत-रूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोक रहस्य।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित।

स्वर्ग और नरक कहां और क्या वस्तु हैं, उनके साथ हमारे इस मृत्युलोकका क्या सम्बन्ध है, इत्यादि विषय शास्त्र और युक्ति-के साथ वर्णित किये गये हैं। आजकल स्वर्ग नरक आदि लोकोंके विषयमें बहुत संशय फैल रहा है। श्रीमान् स्वामीजी महाराजने अपनी स्वाभाविक सरल युक्तियोंके द्वारा चतुर्दश लोकोंका रहस्य वर्णन करते हुए उस सन्देहका अच्छा समाधान किया है। मूल्य ।)

सती-चरित्र-चन्द्रिका।

श्रीमान् पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर सम्पादित।

इस पुस्तकमें सीता, सावित्री गार्गी, मैत्रेयी आदि ४४ सती स्त्रियोंके जीवनचरित्र लिखे गये हैं। मूल्य २)

नित्य कर्म चन्द्रिका।

इस ग्रन्थमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्यन्त हिन्दुमात्रके अनुष्ठान करने योग्य नित्य कर्म वैदिक तांत्रिक मन्त्रोंके साथ भली भांति वर्णित किये हैं। मूल्य ।)

धर्मसोपान

यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्मका साधारण ज्ञान भली भांति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध स्त्री पुरुष, सबके लिये बहुत ही उपकारी है। धर्मशिक्षा पानेकी इच्छा करनेवाले सज्जन अवश्य